॥ॐ॥
॥श्री परमात्मने नमः ॥
॥श्री गणेशाय नमः॥

# श्री शक्ति गीता

॥ श्री हरि ॥

# ॥ श्री शक्ति गीता ॥

जगात्मात्री के चरण कमलों मे समर्पित :

**श्री मनीष त्यागी**
संस्थापक एवं अध्यक्ष

**श्री हिंदू धर्म वैदिक एजुकेशन फाउंडेशन**

**www.shdvef.com**

**॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय: ॥**

# विषय सूची


अथ प्रथमोऽध्याय : प्रथम अध्याय ..... 4

शक्तिशक्तिमतोरभेदयोगवर्णनम् ..... 4

अथ द्वितीयोऽध्याय :द्वितीय अध्याय ..... 30

चित्कलाविज्ञानयोगवर्णनम् ..... 30

अथ तृतीयोऽध्याय : तृतीय अध्याय ..... 50

वेदकाण्डत्रययोगविज्ञानवर्णनम् । ..... 50

अथ चतुर्थोऽध्याय : चतुर्थ अध्याय ..... 81

मन्त्रशक्तिविज्ञानयोगवर्णनम् ..... 81

अथ पंचमोऽध्याय : पांचवां अध्याय ..... 102

कर्मविज्ञानयोगवर्णनम् ..... 102

अथ षष्ठोऽध्याय : छठा अध्याय ..... 138

ज्ञानविज्ञानयोगवर्णनम् ..... 138

अथ सप्तमोऽध्याय : सातवाँ अध्याय ..... 170

विराररूपदर्शनविभूतियोगवर्णनम् ..... 170

आरती श्री अम्बेमाता की ..... 209

श्रीदुर्गा सप्तश्लोकी स्तोत्र ..... 212

तंत्रोक्तं देवीसूक्त ..... 219

॥ श्रीजगन्मात्रे नमः॥

# ॥ श्री शक्ति गीता ॥

## अथ प्रथमोऽध्याय : प्रथम अध्याय

### शक्तिशक्तिमतोरभेदयोगवर्णनम्

सूत उवाच ॥१॥

सूत जी बोले ॥ १ ॥

गुरुदेव ! त्वया मोक्तं पुराणान्यखिलानि यत् ।
विद्यन्ते स्मृतयो नूनं श्रुतितत्त्वप्रकाशिकाः ॥२॥

हे गुरुदेव ! आपने कहा था कि पुराण सभी वेदों के तात्पर्यप्रकाशक स्मृतियाँ हैं ॥२॥

नैकोपनिषदश्चापि पुराणनिचये ननु।
गीतानाम्ना च विख्यातास्सन्ति तत्राऽपि भूरिशः ॥३॥

और पुराणों में गीता नाम से विख्यात अनेक उपनिषद् भरे हुए हैं ॥३॥

आदिष्टश्चाऽपि मे देव ! विबुधानां च सन्निधौ ।

प्रादुरासीन्महादेवी स्वयं ब्रह्ममयी पुरा ॥४॥

हे देव ! आपने यह भी आज्ञा की थी कि पुरा काल में ब्रह्ममयी महादेवी देवताओं के सन्मुख प्रकट हुई थीं ॥४॥

रहस्यं शक्तिरूपस्य शक्तिमब्रह्मणो बहु ।
श्रावयित्वा महादेवी देवान साध्वकृतार्थयत् ॥५॥

और उन्होंने शक्तिमान् ब्रह्म के शक्तिमय स्वरुप के अनेक रहस्य उनको भलीभाँति सुनाकर कृतकृत्य किया था॥ ५ ॥

त्रिलोकपावनी दिव्यां शक्तिगीतां सुदुर्लभाम् ।
अतो मां श्रावयेदानी ज्ञानानन्ददयानिधे ! ॥६॥

अत: कृपा करके हे ज्ञान आनन्द और दया के निधि गुरुदेव ! त्रिलोक पवित्र कर, सुदिव्य और दुर्लभ शक्तिगीता मुझे सुनाइये ॥६॥

व्यास उवाच ॥७॥

व्यासजी बोले ॥ ७ ॥

त्वद्भक्सा सूत ! सद्बुद्धे ! प्रसन्नोऽस्मि न संशयः ।
विशेषतश्च ते मसा विश्वकल्याणसक्तया ॥८॥

अतः सूत ! समीहेऽहं तुभ्यं श्रावयितुं शनैः ।
पुराणशास्त्रं परमं वेदार्थप्रतिपादकम् ॥ ९॥

हे सुबुद्धि सूत ! मैं तुम्हारी भक्ति से और विशेषतः तुम्हारी जगत्कल्याण में लगी हुई बुद्धि से अत्यंत प्रसन्न हूँ इसलिये शनैः शनैः वेदार्थ प्रतिपादक पुराण शास्त्र तुम्हें सुनाने की मैं इच्छा रखता हूँ ॥८-९॥

यतस्त्वमेव तच्छास्त्रं नृणामभ्युदयाय वै ।
निःश्रेयसकृते चैव लोके ख्यापयितुं प्रभुः ॥ १०॥

क्योंकि तुम उन शास्त्रों को मनुष्यों के अभ्युदय और निःश्रेयस के लिये जगत में प्रकट करने में समर्थ हो ॥१०॥

श्रावये शक्तिगीतां नामिदानीं श्रूयतां खलु ।
महादेवीपदाम्भोजचञ्चरीकदा त्वया ॥११॥

इस समय शक्तिगीता मैं तुम्हें सुनाता हूँ सुनो, क्योंकि तुम्हारा चित्तरूपी भ्रमर महादेवीके पदरूपी कमलमें सदा लीन रहता है ॥११॥

गीतेयं सारभूताऽस्ति सर्वोपनिषदां हिता।
निष्कर्षः सर्ववेदानां जननी ज्ञानवर्चसाम् ॥१२॥

यह सब उपनिषदों की साररूपा, वेदों का निष्कर्ष और ज्ञानज्योति की जननी है ॥१२॥

पुरा देवासुरे युद्धे साक्षाब्रह्मस्वरूपिणीम्।
जगदम्वां महादेवीं समाराध्य दिवौकसः ॥१३॥

विविधैविधिभिः सूत ! विजयं लमिरे यदा ।
अम्बायज्ञमनुष्ठाय ततस्ते विधिपूर्वकम् ॥१४॥

दिक्षाचक्रिरे देवीं विधूतकल्मपास्तदा।
तस्मिन् काले तु देवनारदस्योपदेशतः ॥१५॥

विविदुर्विबुधाः सर्वे यन्मणिद्वीपमुनमम।
तैयद्यप्यम्बिकालोकं समासाद्य महेश्वरी ॥१६॥

द्रष्टुं शक्या तथाऽप्येते सर्वे गन्तुं न शक्नुयुः।
तत्र देवाः कियन्तस्तु किंयन्मात्रर्पयस्तथा ॥१७॥

क्षमन्ते गन्तुमेवाऽहो सूत ! तत्राऽप्यपेक्ष्यते ।
महादेव्या दयादृष्टिस्तां विना नैतुमीशते ॥१८॥

पुरातन काल में जब साक्षात् ब्रह्म स्वरुपिणी जगन्मात रूपधारिणी महादेवी की अनेक प्रकार से उपासना करके देवताओ ने देवासुर संग्राम में जय प्राप्त किया था और इस जयलाभ के पश्च्यात विधिपूर्वक अम्बायज्ञ का अनुष्ठान कर विधूतफल्मष होकर महादेवी के दर्शन लाभ करने की उन्होंने इच्छा की थी, उस समय देवर्षि नारद के उपदेश द्वारा उनको यह विदित हुआ था कि यद्यपि देवी लोकरूपी मणिद्वीप में जाकर जगन्माता का दर्शन प्राप्त हो सकता है परन्तु वहां सब देवता पहुंच नहीं सकते, केवल कुछ देवता और कुछ ऋषिगण ही पहुँचने का सामर्थ्य रखते हैं, तो भी महादेवी की कृपा सापेक्ष है ॥१३-१८॥

एवं सुविदिते तात ! भगवान देवनायकः ।
विष्णुरूचे तदानीन्तु देवान् सम्बोध्य तानिदम् ॥१९ ॥

ऐसा विदित होने पर देवनायक भगवान् विष्णु ने सब देवताओ को समझाकर कहा॥१९॥

प्रभवो न यदा गन्तुं निखिलास्तत्र निर्जराः!
शक्नुवन्त्यपि ये गन्तुं देवीलोकं हि तेऽपि च ॥२०॥

क्षमन्ते स्वेच्छया नैतुं जगदम्वादयामृते ।
यदा तु जगदम्बायाः सर्वथाऽपेक्षिता कृपा ॥२१॥

सर्वैरागम्यतां तर्हिं ब्रह्मचक्रमनुत्तमम् ।
अस्माभिमिलितद्देवैरिहाऽनुष्ठीयतां हितम् ॥२२॥

जब सब देवतागण देवी लोक में नहीं पहुंच सके और जिनकी वहां पहुंचने की सामर्थ्य भी है वे भी अपनी इच्छासे नहीं पहुंच सकते, अत: जब जगन्माता की कृपा ही सब प्रकार से अपेक्षित है तो आओ हम सब मिलकर हितकारी और सर्वोत्तम ब्रह्मचक्रका अनुष्ठान करें ॥२०-२२॥

वयञ्चेद् ब्रह्मचक्रेऽस्मिन् कृतकृत्या भवेम ह ।
अर्मुना ब्रह्मचक्रेण सर्वोत्कृष्टतमेन च ॥२३॥

सर्वेऽभिन्नान्तरात्मानः स्वीयाभिः कम्पशक्तिभिः ।
स्वज्ञानेन स्वभक्त्या च जगन्मातुः पदाम्बुजे ॥२४॥

शक्नुयाम वयं लब्धुमेकाग्रत्वं परं यदि।
तदा मे दृढविश्वासो वर्तते-विबुधर्षभाः॥२५॥

यन्नूनं सा महादेवी स्वयमाविर्भविष्यति ।
स्वदर्शनोपदेशाभ्यामत्रैवाऽनुग्रहीष्यति ॥२६॥

यदि ब्रह्मचक्र में हम लोग सफल काम होंगे और यदि इस सर्वोत्तम चक्र द्वारा हम लोग सब एक अन्तःकरण होकर अपनी क्रियाशक्ति, भक्ति और ज्ञान से जग माता के चरणों में एकाग्रता प्राप्त कर सकेंगे तो मेरा स्थिर विश्वास है कि महादेवी अवश्य यहां ही स्वयं आविर्भूत होकर दर्शन और उपदेश द्वारा हमलोगोंको कृतकृत्य करेंगी ॥२३-२६॥

एतच्छ्रुत्वा वचो विष्णोस्तदानीं निखिलाः मुराः ।
विष्णुं चक्रेश्वर कृत्वा भगवन्त रमापतिम् ॥२७॥

पुण्येन ब्रामचक्रेण सर्वश्रेष्ठत्वमंजुषा ।
उपास्तै महादेव्याः प्रवृत्ताः सुसमाहिताः ॥२८॥

इतना भगवान् विष्णु का वचन सुनकर उस समय समस्त देवतागण भगवान विष्णु को चक्रेश्वर बनाकर ब्रह्मचक्र के द्वारा महादेवी की उपासना में सावधान होकर प्रवृत्त हुए ॥ २७-२८ ॥

तनो विहारिणी निसं भक्तमानसमन्दिरे।
आद्या सैव महादेवी करुणैकनिकेतनम् ॥२९॥

देवसृष्टिते तस्मिन् ब्रह्मचक्रे सुदुर्लभे।
देवासिगोचरीभूय दिव्यं तेजस्वितमयम ॥३०॥

सर्वसौन्दर्य शोभाढन्यं परमाद्भुतदर्शनम् ।
विभ्राणाऽलौकिक रूपमाविर्भाविमवाप ह ॥३१॥

भक्त मनोमन्दिर विहारिणी वही करुणामयी आद्या महादेवी सब देवताओं के द्वारा अनुष्ठित ब्रह्मचक्र में देवताओं के दर्शनेन्द्रियगोचर होकर दिव्य तेजोमय और सब सौन्दर्यों से शोभित अद्भुत रूप में प्रकट हुई ॥२९-३१ ॥

दिवौकसोऽखिला अमी पुरस्तदा
व्यलोकयनंखण्डमण्डलाकृति विभिद्य त्रै तमन्ततिम् ।
अखण्डमण्डलात्मकं मुदिव्यमेकमद्भुतं यहः
किमप्यहो परं प्रकाशते स्म दुःसहम् ॥३२॥

उस समय इन सब देवताओं ने देखा कि अन्धकार को भेदन करके एक सुदिव्य, अद्भुत, दुःसह और अखण्ड मण्डलाकार ज्योति उनके सामने प्रकाशित हुई ॥३२॥

अनन्तकोटिसूर्यतेज ओघमोघताकरं
विभासते स्म तन्महः समुज्ज्वलं मनोहरम् ।
महरततोऽन्तरा गलद्विधरण्यपुञ्जसन्निभा
समाविरास्त षोडशी समस्तविश्वमोहिनी ॥३३॥

वह ज्योति अनन्त कोटि सूर्यों की तेजोराशि को भी पराभूत करने वाली, समुज्ज्वल, मनोहर और शोभायमान थी। उस ज्योति के बीचसे एक गलितकाञ्चन के सदृश और जगत को मुग्धं करने वाली षोडशी स्त्रीमूर्ति प्रकट हुई ॥३३॥

अपूर्वमूतिरम्विकाऽवलास्वरूपधारिणी
वभौ समस्तविश्वनव्यभास्वरप्रभाकरा।
सुदिव्यवस्त्रभूषणैविभूषिता चतुर्भुजैः
सुपाशमशंक  तथाऽभयं वरंच विभ्रती ॥३४॥

असौ जगद्भवस्थितिप्रणाशकारिणीश्वरी
शिवात्मनः परात्परस्य नाभिपद्ममास्थिता।
शिवोऽपि दिव्यमञ्चमतस्यधिस्वपंस्त्रिदेवयुक्
पितृवज्रपिनिर्जरा यदीयपादरूपिणः ॥३५॥

जो स्त्रीरूप धारण करने वाली अपूर्व मूर्ति देवी संसार की नवीन देदीप्यमान सब शोभाओं की छवि रूप से विराज रही है, जो दिव्य वस्त्र और अलंकारों से भूषित है, जो चार हाथों में पाश, अंकुश, अभय और वर को धारण किये हुई जगत की उत्पत्ति स्थिति लय करने वाली जगदीश्वरी शिव रूप धारी परमब्रह्म के नाभि कमल पर आसीना है, शिव दिव्य मंच पर सोये हुए हैं जिस मंच के ब्रह्मा, शिव और विष्णुके सहित अनेक पितृ ऋषि और देवता स्वरुप हैं ॥ ३४-३५ ॥

गभीरमप्यहोऽम्बिकामुखं सुचारुदर्शनं
जगद्विमोहकारकस्वमन्दहास्यशोभितम् ।

अवाचि संसपि स्वतस्तदाननादुदेति च
जगद्विमोइसाधकः स ओंध्यनिर्निरन्तरम् ॥३६॥

देवी का मुख सुचारु दर्शन और गम्भीर होने पर भी जगन्मुग्धकर मन्द हास्य से सुशोभित है, निर्वाक होने पर भी उनके मुख से जगत् को मुग्ध करनेवाली ओंकार ध्वनि स्वतः ही निकल रही है ॥३६॥

समस्ततत्त्वतो ध्रुवं बहिर्गताऽप्यसौ शिवा
जगत्स्यदिव्यशक्तिभिश्च येविषयथाऽखिलम् ।
ददाति विश्वशङ्करं परं निरन्तरं मुहुः
प्रसादमात्मनो जगन्निवासिनीवजातये ॥३७॥

वे सर्वतत्त्वातीत होने पर भी अपनी दैवी शक्ति से जगत् में परिव्याप्त होकर संसार के कल्याण कारी उत्कृष्ट अपने प्रसाद को जगनिवासी जीवसमूह को निरन्तर बारम्बार प्रदान कर रही हैं ॥३७॥

सदात्मिका चिदात्मिका रसात्मिकाऽद्याऽप्यसौ
प्रपद्य सच्चीदात्मकं हि भावमात्मनैव तु ।
प्रपंचरूपधारिणी महेश्वरी द्वयात्मिका
रसात्मकस्वसत्तया समस्तविश्वमाश्नुत ॥३८॥

वह अद्वैत सच्चिदानंदमयी होने पर भी सत् और चित् भाव के आश्रय से द्वैतरूप धारण करती हुई आनन्द भाव से जगत को परिव्याप्त किये हुई हैं ॥३८॥

देवीं ब्रह्ममयीं समीक्ष्य पुरतस्त्वेवंविधा निर्जरा
निष्पन्दा अगिरोऽभवन्निव कियन्मूढा: क्षणं संस्थिताः ।
पश्चान्मोहतयोविमुक्तमतयश्चैतन्यपूर्णाशयाः. शान्ता
देवगणाः कृताञ्जलिपुटा देवी परां तुष्टुवुः ॥३९॥

देवतागण इस रूप में ब्रह्ममयी देवी का दर्शन करके थोडी देर तक निस्पन्द और निर्वाक् हो विमोहित हो गए, तत्पश्चात् मोहमुक्त होकर पूर्ण चेतनता को प्राप्त होते हुए कृताञ्जलि हो स्तुति करने लगे ॥३९॥

देवा ऊचुः ॥ ४० ॥

देवतागण बोले ॥४०॥

देवि ! प्रपन्नात्तिहरे ! शिवे ! त्वं वाणीमनोबुद्धिभिरप्रेम्या ।
यतोऽस्यतो नैव हि कश्चिदीशः स्तोतुं स्वशब्दैर्भवनी कदाचित ॥४१॥

हे महादेवी ! आप वाणी मन और बुद्धि से अगोचर हैं इस कारण इस संसार में ऐसा कोई भी नहीं है जो शब्द द्वारा आपकी स्तुति कर सकता हो ॥४१॥

परं मनोवेगविमोदिता वयं भावं भवत्या अपि वांगमनोधियाम ।
अगोचरं द्योतयितुं समुद्यताः क्षमस्व नो दोषममुं दयानिधे ! ॥४२॥

परन्तु हम मन के आवेग से आपके मन, वचन और बुद्धि से अगोचर भाष को शब्दों के द्वारा प्रकट करने में प्रवृत्त हुए हैं, हे दयानिधे ! इस अपराध को आप क्षमा करें ॥४२॥

अत्र क्षमाप्तावपि कारणं ते महत्यपारास्ति कृपैव मातः! ।
ब्रह्मस्वरूपे ! जगदम्बिकेऽलं दयामयीं तवां सततं नमामः ॥४३॥

इस क्षमाप्राप्ति में आपको महती अपार करुणा ही कारण है। हे ब्रह्ममयी जगदम्बिके ! आप दयामयी को प्रणाम है ॥४३॥

परात्परा त्वं परतत्त्वरूपिणी स्वतीय तत्त्वान्यखिलानि राजसे।
सच्चिचसाहाय्यत आत्मना पुनदाम्पसरूपं युगलञ्च विभ्रती ॥४४॥

तनोषि शृङ्गारमयीं समन्ता ल्लीलाललामान्वितसृष्टिमेताम् ।
स्वानन्दसन्दोहभरमकाशामनाधनन्तां जगदम्बिकेऽलम् ॥४५॥

आप तत्त्वातीत परमतत्त्व रूपिणी है, पाप ही पुनः एक ओर से पुरुष और दूसरी ओर से स्त्री रूप धारण करके अपने चित् और सत्भाव की सहायता से युगल दाम्पत्य रूप धारण करती हुई हे जगदम्बिके अपने परमानन्द की प्रकाशक श्रृंगार लीलामयी अनाद्यनन्त सृष्टि लीला का प्रवाह प्रवाहित करती हैं ॥ ४४-४५॥

लीलोदयास्ते भवतो भवत्या अक्षीङ्गितैः केवलमेव मातः!।
नानाविधस्यामितसङ्ख्यकस्य, ब्रह्माण्डसङ्घस्य च देवि ! मन्ये
॥४६॥

सर्गस्थितिमयवहारकार्य भवद्विलासस्य तरंगमात्रम्।
कर्त्तुं क्षणेनाखिलमस्यलं त्वं नमोऽस्त्वतस्तेऽखिलशक्तिरूपे !
॥४७॥

लीला का उदय और अस्त आपके नेत्र के इंगित मात्र से हुआ करता है, एक मुहूर्त में अनन्त ब्रहाण्डों की सृष्टि स्थिति और प्रलय कर देना आपके विलास का एक तरंग मात्र है, एक ही क्षण में सब कुछ कर सकती हो इसलिये हे सर्वशक्तिमयी ! आपकों प्रणाम है॥४६-४७॥

वं निर्गुणाकारविवर्जिताऽपि त्वं भावराज्याच्च वहिर्गताऽपि ।
सर्वेंद्रिययागोचरतां गताऽपि त्वेका ह्यखण्डा विभुरद्वयाऽपि ॥४८॥

स्वभक्तकल्याणविवर्द्धनाय धृत्वा स्वरूपं सगुणं हि तेभ्यः।
निःश्रेयसं यच्छसि भावगम्या विभावरूपे ! भवतीं नमामः ॥४९॥

आप आकाररहित, भवातीत, गुणातीत, अखण्ड, अद्वितीय, विभु और सब इन्द्रियों से अग्राह्य होने पर भी अपने भक्तों के कल्याण के अर्थ ही सगुणरूप धारण करके भावगम्य होकर उनको निःश्रेयस प्रदान करती हैं, हे त्रिभावरूपिणी! आपको प्रणाम है॥४८-४९॥

नास्यम्ब ! सीमा तव सत्कृपायाः शक्ता न ये भक्तगणास्त्वदीयाः।
तत्त्वप्रबोधस्य प्रपूर्त्यभावाद्रष्टुं हि ते भावमयस्वरूपम् ॥५०॥

स्वाभाविकैरेव कृपाकटाक्षैः समीहमाना ह्यनुकम्पितुं तान्।
गुणाश्रयायच्छसि दर्शनं स्वं मुक्तिञ्च तेभ्योऽभ्युदयं ददासि ॥५१॥

ज्ञातुं न शक्तास्तव देवि ! तत्त्वं वयं न दैत्या अपि मानवाः के।
परात्परे ! त्वाञ्च दयाम्बुराशे ! वयं नमामस्त्रिगुणस्वरूपे ! ॥५२॥

आप की कृपा का पार नहीं है, आपका जो भक्त तत्त्वज्ञान की पूर्णता के अभाव से आपके भावमय रूप के दर्शन करने में असमर्थ है परन्तु आप अपनी स्वाभाविक करुणा से उसको कृतकृत्य करना चाहती हैं, उस अपने कृपापात्र भक्त को आप अपने गुणों के आश्रय से दर्शन देकर अभ्युदय और निःश्रेयस प्रदान करती हैं, हे देवि ! आपके तत्त्व को हम देवगण तथा असुर कुछ भी नहीं समझ सकते तो मनुष्यों का तो कहना की क्या है, हे परात्परे! हे दयाम्बुराशे हे त्रिगुणमयी! आपको प्रणाम है ॥५०-५२॥

कि वर्णनं तेऽस्ति कृपाम्बुराशे र्येऽज्ञानपाशैर्जड़िता विमुग्धाः।
मातमहत्त्वं परमाद्भुतं ते किमप्यहो नैव विदन्ति भक्ताः ॥५३॥

अनन्यभक्सैव तु केवलं हि भृङ्गायमाणास्तव पादपद्मे।
विच्योतयस्यम्ब ! न तानपि त्वं स्वदर्शनान्मोक्षखनेः कदापि ॥५४॥

श्रीविष्णुगौरीशिवधीशसूर्यरूपामु पञ्चात्मकदेवतासु।
यथारुचि तवं प्रकटत्वमेत्य स्थूलासु तान्वै कुरुपे कृतार्थान् ॥५५॥

हे जगन्मातः!आपकी कृपा का कहां तक वर्णन किया जाय, जो आपका अज्ञान पाश से विजडित विमूढ़ अज्ञ भक्त आप के महत्त्व को कुछ भी नहीं समझता है परन्तु आपके चरणकमलों में अनन्य भक्ति से भ्रमर जैसा प्रेम रखता है उसको भी आप मोक्ष-प्रद अपने दर्शन देने से विमुख नहीं रखती और विष्णु, सूर्य, गौरी, धीश और शम्भु रूपी पञ्चमूर्तियों में से जैसी उसकी रुचि हो उसी स्थूलमूर्ति में प्रकट होकर उसको कृतकृत्य करती हो। ॥५३-५५॥

देवेषु राज्येषु यदा कदाचिद् घोरेण देवासुरसङ्गरेण ।
उत्तिष्ठते धार्मिकविप्लवोघो दयामाये ! लञ्च तदैव नूनम् ॥ ५६॥

मातर्जगन्मङ्गलमाशु कर्त्तुमाकृष्य तेजांस्यमलानि नोऽलम् ।
तैरेव सन्दीपितदिक्समूहैः स्थूल स्वरूपं विमलं दधाना ॥५७॥

हत्वाऽमुरांस्तान कुरुपे व्यवस्थां देवाधिराज्यस्य विशालसीनः।
एवं कदाचित्किल मर्त्यलोके धर्मस्य जाते बहु विप्लवे हि ॥५८॥

विभिन्नजीवेष्ववतीर्य मात ईठादसाधूनिखिलानिहत्य।
साधूनवन्ती पुनरेव धर्म राज्यं सुसंस्थापय से तदा त्वंम् ॥५९॥

देशो यदा हासमुपैति तं त्वं नेतस्वरूपे ह्यवतीर्य पासि ।
विष्ण्वादिपञ्चात्मकदेवरूपे ! वयं नमामो रणचण्डिके ! त्वाम् ॥६०॥

जब कभी घोर देवासुरसंग्राम द्वारा दैवीराज्य में धर्मविप्लव उपस्थित होता है तब आप जगत के कल्याण के लिये हम सभी के निर्मल तेज को आकर्षण करके दिशाओं को दीपित करनेवाले उस तेज से अपना स्थूल रूप धारण करती हुई, असुरो का निधन करके देवीराज्य की सुव्यवस्था करती है,उसी प्रकार जब कभी मृत्युलोक धर्म विप्लव उपस्थित होता है तो आप विभिन्न जीव शरीर में अवतीर्ण होकर असाधुओ का विनाश और साधुओं को सुख प्रदान द्वारा धर्म का पुनः संस्थापन करती हो, उसी प्रकार जब देश की अवनति होने लगती है तब नेता रूप में अवतार लेकर उसकी रक्षा करती हो, हे पञ्चदेवमयी ! हे रणचण्डिके ! आपको प्रणाम है ॥ ५६-६० ॥

त्वं सचिदानन्दमये स्वकीये ब्रह्मस्वरूपे निजविज्ञभक्तान् ।
तथेशरूपे च विधाप्य मातरुपासकान दर्शनमात्मभक्तान् ॥६१॥

निष्कामयज्ञावलिनिष्ठसाधकान् विराटस्वरूपे च विधाप्य दर्शनम्।
श्रुतेर्महावाक्यमिदं मनोहर करोष्यहो "तत्त्वमसीति" सार्थकम् ॥६२॥

मन्त्रावलीनां सहसेतुभूते ! सृष्टयादिजाते ! प्रभवे ! श्रुतीनाम् ।
अनाद्यनन्तेऽखिलगे ! प्रणम्ये ! नमो भवत्यै प्रणवस्वरूपे ! ॥६३॥

आप अपने ज्ञानी भक्तों को सच्चिदानन्दमय ब्रह्मरूप में दर्शन देकर, उपासक भक्तों को ईश्वरी रूप से दर्शन देकर और निष्काम यश निष्ठभक्तो को विराट्मूर्ति दर्शन देकर तत्त्वमसि महावाक्य को चरितार्थता करती हैं, हे मन्त्रों के सेतु! हे सृष्ट्यादिजात! हे श्रुतिप्रभवे ! हे सर्वपूज्ये! हे प्रणवरूपिणी ! आपको प्रणाम है ॥६१-६३॥

ज्ञानस्य साम्राज्यमृषिप्रकाण्डैरस्माभिरम्बाखिलकर्मराज्यम् ।
स्थूलं स्वराज्यं पितृभिश्च नूनं दत्त्वाथ संरक्षयसे स्वशक्तिम् ॥६४॥

अव्यक्तरूपेऽखिलशक्तिशोभे! व्यक्तेऽगुणे! सगुणेऽसि मातः !।
विमोहिनी जीवततेरविद्या विद्यापि कैवल्यपदा त्वमेव ॥६५॥

नित्यं तुरीयास्पदसम्प्रतिष्ठा विधायिनी ब्रह्ममयी त्वमेव।
स्वाहास्वधाकारवषटस्वरूपे ! हे देवमातर्भवतीं नमामः ॥६६॥

आप ही अपनी शक्ति प्रदान करके ऋषियों के द्वारा ज्ञानराज्य का संरक्षण, हम लोगों के द्वारा कर्म राज्य का संरक्षण और पितरों के द्वारा स्थूलराज्य का संरक्षण कराती हो, हे सर्वशक्तिमयी ! हे व्यक्ताव्यक्त रूपिणी ! हे निर्गुणासगुणा ! आप ही जीवों को मोहित करनेवाली अविद्या, जीवमुक्ति दात्री विद्या और आप ही तुरीयपद-प्रतिष्टितकारिणी ब्रह्ममयी हैं, हे स्वाहास्वधावषट रूपिणी ! हे देवजननी ! आपको प्रणाम है॥६४-६६॥

त्वमेव मातः ! प्रतिकल्पमेव सरस्वतीरूपमहो दधाना।
स्वाध्यात्मशक्यर्पिप्रशान्तचित्त माविविधत्से च प्रणोद्य वेदान् ॥६७॥

वेदेषु संस्थापयसेज्य मन्त्रशक्तिं हि गायत्र्याधिरूपतस्त्वम् ।
त्वमेव सावित्र्यधिरूपतश्च यज्ञक्रियाशक्तिमथो वितन्य ॥६८॥

तत्साधकेभ्यो मनुजेभ्य आशु निःश्रेयसञ्चाऽभ्युदयं ददासि ।
अतो वयं ज्ञानप्रदेऽतिनम्रा हे वेदमातर्भवतीं नमामः ॥ ६९॥

प्रतिकल्प में आप सरस्वती रूप धारण करती हुई अपनी अध्यात्मशक्ति के द्वारा ऋषियों के अन्तःकरण को प्रेरणा करके वेद का आविर्भाव करती हैं, गायत्री रूप से वेदों में मन्त्रशक्ति प्रदान करती हैं और सावित्री रूप से यज्ञ की क्रियाशक्ति विस्तार करके मनुष्यों को अभ्युदय और निःश्रेयस प्रदान करती हैं। हे वेद जननी ! हे ज्ञानदे ! अति नम्रता पूर्वक आपको प्रणाम है ॥ ६७-६९॥

महादेव्युवाच ॥ ७० ॥

महादेवी ने कहा ॥७०॥

अनुष्ठितेन युष्माभिर्ब्रह्मचक्रेण निर्जराः।
युष्माकञ्चैव सदंक्सा प्रसननाऽस्मि न संशयः ॥७१॥

हे देवतागण ! आपके ब्रह्मचक्र के अनुष्ठान और आप सभी की भक्ति से मैं प्रसन्न हुई हूँ ॥७१॥

पूर्ण कर्त्तुमहं देवा भवतां यदभीप्सितम् ।
सगुणं रूपमास्थाय प्रादुर्भताऽस्मि साम्प्रतम् ॥७२॥

मैं आपकी शुभ इच्छा पूर्ण करने को सगुण रूप में प्रकट हुई हूँ ॥७२॥

वर्तते भवतां देवा यत्किञ्चिद्वाञ्छितं शुभम् ।
व्याहरन्तु भवन्तस्तव पूरयिष्याम्यहं ध्रुवम् ॥ ७३ ॥

आपकी जो इच्छा हो सो प्रकट करें मैं उसको पूर्ण करूंगी ॥७३॥

देवा ऊचुः ॥ ७४ ॥

देवतागण बोले ॥७४॥

महादेवि ! प्रभो ! मातभक्तमानसमन्दिरे।
विहारिणि ! प्रसन्ने ! हे दयापूरिततमानसे ! ॥७५॥

विबुधासुरसंग्रागे ह्यसुराणां पराजयः।

अभून्नो विजयो देवि ! तत्वेऽपारकृपाफलम् ॥७६॥

हे जगजननी ! हे भक्त मनोमन्दिर विहारिणी । हे करुणामयी ! देवासुर संग्राम में दुर्जेय असुरों का पराजय और हमारा जय होना आपकी ही अपार कृपा का फल है। ॥७५-७६॥

अथवा भक्तवात्सल्यपरिणामोऽस्वयं तव।
इच्छामः साम्प्रतं त्वेतद्वाङ्मनोबुद्धयगोचरम् ॥७७॥

भवत्या यात्स्वरूपं हि वर्चते परमाद्भुतम् ।
ज्ञानं तस्य प्रयच्छ त्वमुपदेशं तथेदृशम् ॥७८॥

तव सानिध्यसम्पातिर्यन विन्देम सच्चरम्।
अमङ्गलं कदाचिनो न भवेच महेम्वार ! ॥ ७९ ॥

अथवा आपके भक्त वात्सल्य का फल है। अब हम लोगों की यही इच्छा है कि हमारे मन वचन और बुद्धि से अतीत जो आपका स्वरूप है उसका ज्ञान हमको प्रदान कीजिये और ऐसे उपदेश दीजिये जिससे हम सब आपके सानिध्य को प्राप्त कर सके जिससे हे महेश्वरी ! हमारा अमल न हो ॥७७-७९॥

महादेव्युवाच ॥८०॥

महादेवी बोली ॥८०॥

अहं हि कारणब्रह्म कार्य्यब्रह्मास्मि चाप्यहम् ।
देवाः ! कारणरूपेण सच्चिदानन्दमय्यहम् ॥८१॥

भूत्वैकाद्वैतसत्तायां भासमाना भवामि वै।
सत्सत्तापरिविस्तृसा बहमेव पुनः सुराः!॥८२॥

अहंममोतिवद्वैतभावञ्चैव विमर्म्यहो।
तदा ममैव चित्सत्ता पुरुषे प्रकृतौ तथा ॥८३ ॥

सत्सत्ता मकटीभूय निश्चितं विबुधर्षभाः ।
जगदानन्दसत्ताया विलासं सृजतः स्वयम् ॥८४॥

हे देवतागण ! मैं ही कारणब्रह्म हूँ और मैं ही कार्यब्रह्म हूँ। कारण रूप से मैं ही सच्चिदानन्द मयी होकर एक अद्वैत सत्ता में प्रकाशित होती हूँ। पुन: मैं ही मेरी सत्सत्ता के विस्तार द्वारा अहंममेतिवत् द्वैतभाव को धारण करती हूँ । उस समय मेरी ही चित्सत्ता पुरुष रूप में और मेरी ही सत्सत्ता प्रकृति रूप में प्रकाशित होकर आनन्द सत्ता के विलासरूपी इस जगत की स्वयं प्रगट करती है, हे देवगण! यह निश्चय है ॥ ८१-८४ ॥

तदाहमेव भूत्वा वै पुरुषो वीजदस्तथा ।
प्रकृतिः क्षेत्ररूपाऽस्मि कार्यब्रह्मणि भासिता ॥८५ ॥

उस समय मैं ही बीजदाता पुरुष और मैं ही क्षेत्ररूपी प्रकृति वनकर कार्यब्रह्म रूप में प्रकाशित होती हूँ ॥८५॥

कार्यब्रह्मस्वरूपेत्र विश्वास्मिन जङ्गमे मम ।
वर्त्तते चिद्विलासस्तु स्थावरे सद्विलासिता ॥८६॥

कार्यब्रह्मरूपी इस जगत में, जंगम में मेरा चिद्विलास और स्थावर में मेरा सद्विलास रहता है। ॥८६॥

ममानन्दविलासोऽसौ व्याप्नुवन् सच्चिदन्तरम् ।
ममैव परमानन्द सत्तां समनुभावयेत् ॥८७॥

मेरा आनन्द विलास दोनों में व्याप्त रह कर मेरी ही परमानन्द सत्ता का अनुभव कराता है ॥८७॥

अहमेवास्मि भो देवाः ! सर्बेवामीश्वरी परा।
उत्पद्यन्ते निभावाश्च त्रिगुणा मत्त एव हि ॥८८॥

हे देवगण ! मैं ही सबकी परमेश्वरी हूँ, तीनों भाव और तीनों गुण मुझसे ही उत्पन्न होते हैं ॥८८॥

सृष्टिस्थितिलयांश्चैव त्रिगुणैरहमेव वै।
करोमि सततं देवाः ! जगतां नात्र संशयः ॥८९॥

तीनों गुणोंसे ब्रह्माण्डौ का सृष्टि स्थिति लय कार्य मैं ही करती हूँ हे देवगण ! इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥८९॥

मन्येवानुभवस्तेषां विभावैभवति ध्रुवम् ।
नानाब्रह्माण्डसंघ हि स्वगर्भ चाहमेव तम् ॥९०॥

सन्धार्य सततं देवाः ! देशकालस्वरूपतः ।

अनाद्यानन्तसत्तायाः कारयेऽनुभवं खलु ॥९१॥

और तीनों भाव द्वारा उनका अनुभव मुझ में ही होता है, हे देवगण ! मैं ही अपने गर्भ में अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों को धारण करके देश और कालरूपमें अपनी अनादि और अनन्त सत्ता का निरन्तर अनुभव कराती हूँ ॥९०-९१॥

ब्रह्माण्डानान्तु सर्वेषां प्रत्येकं प्रभवस्थिती।
विधातुं प्रलयश्चापि जनये निजगर्भतः ॥९२॥

ब्रह्मविष्णुमहेशाख्यास्त्रीन्देवानन्वनेकशः।
ब्राह्मीञ्च वैष्णवी रौद्री स्वांशरूपां सुरर्षभाः! ॥९३॥

एता अनेकशस्तिस्रः शक्तीस्तेभ्यो वितीर्य्य वै।
ब्रह्माण्डसङ्घप्रत्येकसृष्टिस्थितिलयक्रियाः॥९४॥

त्रिभिर्देवैर्यथातथ्यं साधयामि यथाक्रमम्।
यूयं सर्वे च भो देवा भावमाश्रित्य मामकम् ॥९५॥

आधिदैवमजायन्ताध्यात्मिकं च महर्षयः।
आधिभौतिकमाश्रित्य पितरश्चापि जज्ञिरे ॥९६॥

हे देवगण ! प्रत्येक ब्रह्माण्ड में प्रत्येक ब्रह्माण्ड की सृष्टि, स्थिति और लय क्रिया सुसम्पन्न करने के लिये अपने गर्भ से ब्रह्मा, विष्णु और महेशरूपी अनेक त्रिदेवों को उत्पन्न करती हूँ और अपनी ही अंशरूप ब्राह्मी, वैष्णवी और रौद्री ये अनेक त्रिविध शक्तियाँ उनको

यथाक्रम देकर प्रत्येक ब्रह्माण्ड की सृष्टि, स्थिति और लय क्रिया का ठीक ठीक साधन कराती हूँ। देवतागण ! आप सभी मेरे अधिदेव भाव को आश्रय करके मुझ से ही प्रकट हुए हो । ऋषिगण मेरे आध्यात्म के आश्रय से प्रकट हुए हैं और पितृगण मेरे अधिभूतभाव से उत्पन्न हुए हैं ॥९२-९६॥

असुरा अपि भो देवा वर्तन्ते मद्विभूतयः।
अहमादिश्च सर्वेषां व्यासा चास्मि दिवौकसः ॥९७॥

सर्वत्र शक्तिरूपेण निखिलं हि चराचरम् ।
नित्याद्वैतदशायान्तु शाश्वतं सुरसत्तमाः ! ॥९८॥

स्वस्वरूपे च मे देवा मच्छक्तिरवतिष्ठते।
स्वरूपे स्वे च मे देवास्तुरीयाया ममैव हि ॥९९॥

शक्तेर्वलाद्धि जागर्ति सर्वदानुभवः किल।
सच्चिदानन्दरूपस्य त्रिभावस्य न संशयः ॥१००॥

हे देवगण ! असुरगण भी मेरी ही विभूति हैं। मैं सबकी आदि हूँ। मैं ही शक्तिरूप से सब जगह व्याप्त हूँ। मेरे स्वरूप में मेरी शक्ति नित्य अद्वैत दशा में सदा स्थित है। मेरे स्वस्वरूप में मेरी ही तुरीया शक्ति के बल से सत चित्त और आनन्दरूपी तीनों भावों का अनुभव बना रहता है इसमें कुछ सन्देह नहीं ॥९७-१००॥

दशाऽद्वैताऽनुभूयेत मच्छक्तयैव तुरीयया।
तस्या एव तुरीयाया मच्छक्तेर्वलतः खलु ॥१०१॥

निर्विकल्पसमाधिस्थैरात्मारामैर्महात्मभिः।
जीवन्मुक्तैः प्रतीयेऽहमाद्यन्तरहिते विभौ ॥१०२॥

अद्वैते निर्विकारे हि स्वरूपे चिन्मये सुराः।
ममैव विबुधा नूनं शक्तिः कारणरूपिणी ॥१०३॥

ब्रह्मविष्णुमहेशानां जननी नात्र संशयः ।
मत्सूक्ष्मशक्तिरेवाहो देवी शक्तिं प्रयच्छति ॥१०४॥

पितृदेवषिटन्देभ्यो नानादेवीस्वरूपिणी।
जगत्सूथूलपपञ्चोऽयं स्थूलशक्तेर्ममैव हि ॥१०५॥

नानाभेदान समाश्रित्य नानारूपेषु जायते ।
स्थूलप्रपञ्चरूपं हि जगदयस्य स्थ रक्षकाः ॥१०६॥

यूयं देवगणाः सर्वे स्थूलशक्तेममैव च ।
परिणामस्वरूपं तज्जानीत सुरसत्तमाः !॥१०७॥

मेरी तुरीयशक्ति से ही अद्वैत दशा का अनुभव होता है। हे देवगण ! उसी तुरीय शक्ति के बल से मैं निर्विकल्प समाधि में स्थित आत्माराम जीवन्मुक्त महात्माओं को आदि अन्तरहित विभु निर्विकार अद्वैत चिन्मय रूप में प्रतीत होती हूँ । मेरी कारण शक्ति ब्रह्मा, विष्णु, महेश की जननी है इसमें सन्देह नहीं है और मेरी सूक्ष्म शक्ति ही नाना देवी रूप धारण करके ऋषि देवता पितरों को दैवी शक्ति प्रदान करती है। जगत का स्थूल प्रपञ्च मेरी ही स्थूल शक्ति के अनन्त भेदों को

आश्रय करके अनन्तरूप में प्रकट हुआ करता है। यह स्थूल प्रपञ्चमय जगत् जिसके आप सब रक्षक हो मेरी ही स्थूल शक्ति का परिणाममात्र हैं हे देवगण! इसको आप जाने ॥१०१-१०७॥

अविद्यारूपमाश्रित्य ह्यमेव जगत्सुराः।
उत्पादये पुनश्चाहं विद्यारूपमधिश्रिता ॥१०८॥

जगतोऽस्य लयस्थानं बोधयामि दिवौकसः!।
अहं द्रष्टी च दृश्या च शक्तिः शक्तिमती तथा ॥१०९॥

हे देवगण ! मैं ही अविद्यारूप से जगत को प्रकट करती हूँ और मैं ही विद्यारूप धारण करके जगत के लय-स्थान को लक्ष्य कराती हूँ। मैं ही दृश्य हूँ और मैं ही द्रष्टा हूँ। मैं ही शक्ति हूँ मैं ही शक्तिमान् हूँ ॥१०८- १०९॥

शक्तिशक्तिमतोभेंद तत्वज्ञानविवर्जिताः।
बालिशा एव पश्यन्ति न तत्त्वज्ञानिनो जनाः ॥११०॥

शक्ति और शक्तिमान में भेद तत्त्व ज्ञानविहीन मूर्ख जीव ही समझते हैं परन्तु ज्ञानिगण नहीं समझते हैं ॥११०॥

अभेदज्ञानसम्पन्नाः शक्तः शक्तिमतस्तथा।
तत्त्वज्ञाननदीष्णाता ज्ञानाधिपारदर्शिनः ॥१११॥

सात्त्विकाभेदसज्ज्ञान-बलान्मां प्राप्नुवन्त्यहो।

अहमेव पराभक्तया ज्ञानिनो विबुधर्षभाः !॥११२॥

सन्निधौ भक्तवर्गस्य प्रादुर्भावमवाप्नुयाम् ।
ब्रह्मेश्वरविरारूप-त्रिभावेषु न संशयः ॥११३॥

शक्ति और शक्तिमान में अभेदज्ञान करनेवाले ज्ञान पारंगत तत्वज्ञानी महापुरुष सात्त्विक अभेद ज्ञान के बल से मुझको ही प्राप्त होते हैं। हे देवगण ! मैं ही ज्ञानी भक्त के सम्मुख पराभक्ति के द्वारा ब्रह्म ईश विराटरूपी त्रिभाव में प्रगट होती हूँ इसमें सन्देह नहीं ॥ १११-११३॥

ते तत्त्वज्ञानिनो भक्ता ज्ञानिनो ये परात्परम् ।
तत्त्वातीतंच में तत्त्वं बुध्यन्ते साधु निर्जराः ! ॥११४॥

मां कदाचिदनाद्यन्तविराहूपस्य धारिणीम्।
निरीक्षन्ते कदाचित्तु नानाशृंगारमास्वरम् ॥११५॥

सगुणं मेऽद्भुतं रूप-मुपासीना निरन्तरम् ।
देवा अनुभवन्त्येव ब्रह्मानन्दमलौकिकम् ॥११६॥

समाधिस्थाः कदाचित्तु तत्त्वातीतं परात्परम् ।
महात्मानश्च मे तत्त्वं सम्प्रत्येतुं समीशते ॥११७॥

अचिन्त्यं केवलाद्वैतज्ञानलोचनगोचरम्।
दशामेतां समासाद्य मद्गता ज्ञानिनोऽमराः ! ॥११८॥

स्वरूपं मेऽधिगच्छन्ति परमानन्दसागरम् ।

नात्र कश्चन सन्देहो विद्यते विबुधर्षभाः ! ॥११९॥

हे देवगण ! वे तत्वज्ञानी ज्ञानी भक्त जो मेरे तत्त्वातीत परम तत्त्व को भलीभांति जान जाते हैं मुझे कभी अनादि अनन्त विराट रूप धारिणी देखते हैं, कभी मेरे अनेकों श्रृंगारमय अद्‌भुत सगुण रूप में मेरी उपासना करते हुए, अलौकिक ब्रह्मानन्द को निरन्तर अनुभव करते हैं और कभी वह महात्मा समाधिस्थ होकर मेरे तत्त्वातीत, केवल अद्वैत ज्ञानविषयक अचिन्त्य परमतत्त्व के अनुभव में समर्थ होते हैं। इस दशा में पहुंचकर हे देवतागण! मेरे ज्ञानी भक्तगण मेरे ही परमानन्द सागर रूप स्वरूप को प्राप्त होते हैं इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ ११४-११९॥

इति श्रीशक्तिगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे महादेवी देवस्म्वादे शक्तिशक्तिमतोरभेदयोगवर्णनं नाम प्रथमोध्यायः।

इस प्रकार श्रीशक्तिगीतोपनिषद् के ब्रह्मविद्यासम्बन्धि महादेवीदेव सम्वादात्मक योगशास्त्र का शक्ति और शक्तिमान् का अभेद योगवर्णन नामक प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।

॥ श्रीजगन्मात्रे नमः॥

# ॥ श्री शक्ति गीता ॥

## अथ द्वितीयोऽध्याय :द्वितीय अध्याय

### चित्कलाविज्ञानयोगवर्णनम्

देवा ऊचुः ॥१॥

देवतागण बोले ॥१॥

देवमातर्जगन्मातज्ञारनदे ! ब्रह्मरूपिणि !।
नैवासीद्विदितं किञ्चित्स्वरूपं ते यथार्थतः ॥२॥

हे देवजननी ! हे जगजननी ! हे ब्रह्मरूपिणी! हे ज्ञानदे ! हम लोगों को आपका यथार्थवरूप कुछ भी विदित नहीं था ॥२॥

महामान्ये ! महादेवि ! महाहङ्कारमोहिताः ।
किंकर्तव्यविमूढा वै अत आस्म पुरा वयम् ॥३॥

इस कारण हे परममाननीया महादेवी ! हम अहंकार विमोहित होकर पहले किंकर्तव्यविमूढ़ हुआ करते थे ॥३॥

अखण्डच तवाद्वैतं स्वरूपं त्वन्मुस्वाम्बुजाद।
निशम्याध वयं मातः। शक्तिशक्तिमतोस्तथा ॥४॥

अभेदं ननु विज्ञाय तं तत्त्वज्ञानमूलकम्।
तत्त्वज्ञानप्रसूं दिव्यामन्तर्दृष्टिमवाप्नुम ॥५॥

हे मातः! आज आपके अखण्ड अद्वैत स्वरूप को आपके मुखारविन्द से, सुनकर तथा शक्ति और शक्तिमान में जो तत्वज्ञानमूलक अभेद है उसको जानकर हमने तत्त्वज्ञान जननी दिव्य अन्तर्दृष्टि प्राप्त की है। ॥४-५॥

साम्प्रतं सफलं विद्यो निजास्तित्वं न संशयः।
इदानीं दयया देवि ! स्वकलावर्णनं कुरु ॥६॥

येन चानुभवं कर्तुं भवत्याः सर्वथा वयम् ।
शक्नुयाम जगन्मातः ! कलारूपेण सर्वतः ॥७॥

अब हम निःसन्देह अपने अस्तित्वको सफल समझते हैं - हे जगन्मातः ! हे देवी! अब आप कृपा कर अपनी कलाओं का वर्णन करें जिससे हम सर्वत्र कलारूप से आपको अनुभव करने में सर्वथा समर्थ हो सके ॥६-७॥

महादेव्युवाच ॥८॥

महादेवी बोली ॥८॥

दृश्यमपञ्चजातेऽस्मिन्निखिले सचराचरे।
अभिव्यक्ताऽस्मि भो देवाः ! कलारूपेण सर्वतः ॥९॥

परं दृश्यमपञ्चस्तु नैवास्ते मयि निर्जराः।
मय्यास्ते पूर्णसद्भावः कलाषोडशकान्वितः ॥१०॥

चिद्भावानन्दभावौ स्तः कलापूर्णो च मय्यतः।
कलाषोडशकोपेतसच्चिदानन्दमय्यहम् ॥११ ॥

हे देवतागण ! मैं ही कलारूपसे इस सारे चराचर दृश्य प्रपञ्च समूह में व्यापक रूप से प्रकट हूँ । परन्तु मुझमें दृश्यप्रपञ्च नहीं है। मुझमे हे देवगण सोलह कलाओं से पूर्ण सद्भाव, सोलह कलाओं से पूर्ण चिद्भाव और सोलह कलाओं से पूर्ण आनन्दभाव विद्यमान है; इसलिये मैं षोडशकलाओं से युक्त सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ ॥९-११॥

यतोऽहं सचिदानन्दभावैः पूर्णैश्च पूरिता।
अन्तःपूर्णा बहिःपूर्णा पूर्णाऽतोऽस्मि च सर्वथा ॥१२॥

मुझमें पूर्ण सच्चिदानन्दभाव विद्यमान है इसलिये मैं अन्तःपूर्ण बहिःपूर्ण तथा सब प्रकार से पूर्ण हूँ ॥१२॥

सचिदानन्दभावानां नन्वेकैककलाश्रयः।
दृश्यप्रपञ्चपुञ्जोऽयं समुद्भतोऽखिको मम ॥१३॥

मेरी सद्भाव की एक कला, चिद्भाव की एक कला और आनन्दभाव की एक कलामात्र से ही यह सारा दृश्य प्रपञ्च उत्पन्न हुआ है ॥१३॥

एतास्तिस्रास्त्रिभावानां विश्वं व्याश्नुवते कलाः।
आधिदैविकमाध्यात्म रूपं धृत्वाऽधिभौतिकम् ॥१४॥

ये ही तीन कलाएँ अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत रूप धारण करके जगत में व्याप्त हैं ॥१४॥

आध्यात्मिक्या कलाः सर्वा मम षोडशसंख्या काः ।
प्रपूर्य्यन्ते शिवेऽतोऽसौ महादिर्जगद्गुरुः ॥१५॥

मेरी आध्यात्मिक षोड़श कलाओं की पूर्णता शिव में प्रकाशित होने से यह सब ऋषियों के आदि और जगत के गुरु हैं ॥१५॥

मत्कला आधिदैविक्यः प्रपूयन्ते यतो हरौ।
अतो देवादिदेवोऽयं विश्वस्मिन् विष्णुरुच्यते ॥१६॥

मेरी अधिदैव कलाओं की पूर्णता विष्णु में होने से यह संसार में देवादिदेव कहे जाते हैं ॥१६॥

ममावतारसङ्गोऽपि विष्ण्वंशैरेव जायते।
विधौ पोड़श पूर्य्यन्ते ह्यधिभूतकला मम ॥१७॥

अतः मजापतीनाश्चाऽसावस्त्यादिः पितामहः ।

ममाध्यात्मकलानाञ्च पोड़शानां पुराऽमराः ! ॥१८॥

भूत्वा सप्तर्षिवर्गेषु विकाशो याति हेतुताम् ।
अनेकेषां महर्षीणां ज्ञानविस्तारकारिणाम् ॥१९॥

इसीलिये मेरे अवतारसमूह विष्णु के अंश से ही प्राविर्भूत होते हैं। मेरी अधिभूत कलाओं की पूर्णता ब्रह्मा में है इस कारण ये प्रजापतियों के आदि और पितामह कहे जाते हैं । हे देवगण! मेरी अध्यात्म षोड़श कलाओं का विकास प्रथम सप्तर्षियों में होकर ज्ञान के चालक नाना ऋषियों का कारण बनता है ॥१७-१९॥

कलाविशेषमेतासां सन्दधाना वितन्वते ।
अवतीर्य्यर्पयो ज्ञानं लोकानेत्य चतुर्दश ॥२०॥

ऋषियों के अवतार गण मेरी इन कलाओं मे से विशेष विशेष कलाओं को धारण करके चतुर्दश भुवन में ज्ञान का विस्तार करते हैं ॥२०॥

समासाद्याऽऽधिदैवीमें कलाः पोड़शसङ्ख्यकाः ।
वसवोऽष्टौ यमेन्द्रौ च रुद्रा एकादशामराः ! ॥२१॥

द्वादशादित्यसम्मिश्रा देवास्त्रिंशत्त्रयस्तथा ।
प्रादर्भवन्त्यमी सर्वे नित्या नैमित्तिकास्ततः ॥२२॥

व्यवस्था कर्मराज्यस्य प्रादुर्भूय प्रकुर्वते।
अनेके पितरश्चैवं ये प्रजापतयो दश ॥२३॥

षोशालम्ब्य कुर्वन्ति तेऽधिभूतकला मम ।
नानावैचित्र्यपूर्णायाः सृष्टेरस्या व्यवस्थितिम् ॥२४॥

हे । देवगण ! मेरी अधिदैव षोडश कलाश्री को प्राप्त करके अष्टवसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, यम और इन्द्र यह तैंतीस देवता तथा अनेक नित्य, नैमित्तिक देवता प्रकट होकर कर्मराज्य की सुव्यवस्था करते हैं। इसी प्रकार मेरी अधिभूत षोड़शकलाओं को अवलम्बन करके दस प्रजापति और नाना पितृगण प्रकट होकर नाना विचित्रता पूर्ण सृष्टि को सुव्यवस्था करते हैं ॥२१-२४॥

अन्तिकं नृंश्च मे नेतुं नितरामग्रगामिनः।
व्याप्ताप्यस्यां कलारूपाजगंर्त्य सर्वतः सुराः ! ॥२५॥

अद्वितीयाऽहमेकास्मि शुद्धा बुद्धा च शाश्वती ।
सीमा नास्त्येव भो देवा ! कलाविश्लेषणस्य मे ॥२६॥

और मनुष्यों को मेरी ओर निरन्तर अग्रसर करते हैं। हे देवतागण ! मैं कलारूपिणी होकर इस जगत में व्याप्त होने पर भी एक अद्वितीय शुद्ध बुद्ध और नित्य हूँ । मेरी कलाओं के विश्लेषण का पार नहीं है ॥२५-२६॥

शक्तेर्मव्यवतिष्ठन्ते कलाः षोड़श सर्वदा ।
अतोऽहं सर्वशक्तीनामस्म्याधारस्वरूपिणी ॥२७॥

मुझमें शक्ति की षोडश कला सर्वदा विद्यमान है इसलिये मैं सब शक्तियों की आधारस्वरूप हूँ ॥२७॥

कलारूपैः कलापूर्णा शक्तिः सा मेऽश्नुते जगत् ।
तस्यास्तासां कलानान्तु विच भेदाननेकशः ॥२८॥

कलाओं से पूर्ण वही मेरी शक्ति कलारूप से जगत में परिव्याप्त है। उस शक्ति की उन कलाओं के अनेक भेद हैं सो जानो ॥२८॥

ममैवैका कला शक्तरुद्भिज्जेषु विकाशते।
स्वेदजेषु कलाद्वैतमण्डजेषु कलात्रयम् ॥२९॥

चतस्रश्च कला भान्ति जरायुजगणेऽखिले।
पञ्चकोषमपूर्णत्वान्मर्त्येषु प्रायशोऽमराः । ॥३०॥

आकलापञ्चकादष्ट कला नूनं चकासति ।
नवारभ्य कला यावत्षोड़शं ये यथायथम् ॥ ३१॥

सम्बिकाश्यावतारेषु नानाकेन्द्रोद्भवेषु च ।
कुत्रचिन्मे प्रपूर्य्यन्तेऽवतारे पूर्णसंज्ञके ॥ ३२॥

मेरी शक्ति की एक कला का उद्भिज में, स्वेदज में दो कलाओं का, अण्डज में तीन कलाओं का और सब जरायुजों में चार कलाओं का विकास होता है। हे देवगण ! पञ्चकोष के पूर्ण अधिकारी होने के कारण मनुष्यों में पांच कलाओं से लेकर आठ कलाओं तक का

विकास होता है और साधारणतः अनेक केन्द्रों से आविर्भूत मेरे अवतारों में नव से लेकर सोलह कलाओं का यथा आवश्यक विकास होकर किसी पूर्णावतार में सोलह कलाएँ पूर्ण विकसित होती हैं ॥२९-३२॥

मच्छक्तेः षोड़शानान्तु कलानामस्ति पूर्णता।
मदाज्ञारूपधर्मेऽतो ज्ञेयो धर्मः सनातनः ॥३३॥

मेरी शक्ति की षोडश कलाओं की पूर्णता मेरी आज्ञारूपी धर्म में विद्यमान है इसी कारण धर्म को सनातन जानना उचित है। ॥३३॥

अस्म्यतः सर्वधर्माणामाश्रयस्थलमुत्तमम् ।
स्थूलसूक्ष्मात्मकं विश्वं समस्तं सचराचरम् ॥३४॥

मदादेशात्मको धर्मो नियमेव विभर्ति सः।
धर्मशक्तेहि मे पूर्णाः कलाः षोडशसंख्यकाः ॥३५॥

आर्य्यजातीयधर्मेषु विद्यन्ते विवुधर्षभाः.!
आर्यजातिरतोऽन्यासामस्त्याधः शिक्षको गुरु ॥ ३६॥

आर्यधर्मोऽन्यधर्माणां जनकः पालकोऽस्ति च ।
नात्र कश्चन सन्देहो विव्रतेऽदितिनन्दनाः !॥३७॥

इसीलिये मैं सभी धर्मों की उत्तम आश्रयस्थल हूँ और इसी से मेरी आज्ञा रूपी धर्म ही स्थूल सूक्ष्मात्मक तथा स्थावर जंगमात्मक समस्त

जगत की सर्वदा धारक है। मेरी धर्म शक्ति की पूरी षोड़श कलाएँ आर्य जाति के स्वधर्म में विद्यमान हैं, इसलिये आर्य जाति जगत को अन्यान्य जातियों की आदि शिक्षक तथा गुरु है और आर्य धर्म अन्यान्य धर्मों का जनक तथा पालक है, हे देवतागण ! इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥३४-३७॥

यज्ञो दानं तपश्चेति धर्माङ्गत्रयमेव हि ।
मोक्षदं स्यातत्प्रपूर्ण सदद्धयत् क्रमशः कलाः ॥३८॥

यद्यपि यज्ञ, तप और दान यह ही धर्म के तीन अंग क्रमशः धर्मकलाओ की अभिवृद्धि करते हुए पूर्णता को प्राप्त होकर मुक्तिप्रद होते हैं ॥३८॥

धर्मः किन्तु कलानाञ्च साहाय्यात्सम्बिभज्यते ।
नैकाङ्गोपाङ्गपुंजेषु सम्प्रदायव्रजेष्वपि ॥ ३९ ॥

विधत्तेऽभ्युदयश्चैप नृणां नानाधिकारिणाम् ।
धारिकाया द्विधा भिन्ना धर्मशक्तेः कलाः सुराः ॥४०॥

सत्मप्रवृत्त्यात्मकं नूनं निवृत्त्यात्मकमेव च।
नारीधर्म नृधर्मश्च न्यस्यन्तीह पृथक्तया ॥४१॥

किन्तु धर्म अपनी कलाओं की सहायता से अनेक अंग, उपांग और सम्प्रदायों में विभक्त होकर विभिन्न प्रकार के अधिकारियों का अभ्युदय करता है । हे देवतागण ! धर्म की धारिका शक्ति की

पूर्णकला दो भागों में विभक्त होकर प्रवृत्ति तथा निवृत्ति मूलक पुरुषधर्म और नारी धर्म को अलग अलग स्थापित करती है। ॥ ३९-४१॥

प्रवृत्त्यात्मकधर्मस्य संस्थाप्यादर्शमुत्तमम्।
नन्वहं विष्णुरूपेण धर्मान वर्णाश्रमाभिधान् ॥४२॥

मानवैः पालयन्तीह मुक्तेस्तानास्पदं नये ।
भूयः शम्भुस्वरूपेण यथावर्णाश्रमं शनैः ॥४३॥

निवृत्यात्मकधर्मस्य सत्यध्वपरिदर्शिका ।
पन्थानं दुगम मुक्तेः कुर्वेऽहं सुगमं द्रुतम् ॥४४॥

मैं ही विष्णुरूप से प्रवृत्तिधर्म का उत्तम आदर्श स्थापित करके मनुष्यों को स्वर्णाश्रम धर्म का पालन कराती हुई उनको कैवल्यपद की ओर अग्रसर करती हूँ और मैं ही पुनः शिवरूप से वर्णाश्रम धर्म के अनुसार शनैः शनैः निवृत्तिधर्म की पथप्रदर्शक बनकर कठिन मुक्ति पथ को शीघ्र सरल करती हूँ ॥४२-४४॥

उपदिष्टे अतो वेदैरुपास्तिर्ध्यानमप्यहो।
मज्जगद्गुरुरूपस्य शिवविष्णुस्वरुपयोः ॥४५॥

इसी कारण मेरे जगद्गुरुस्वरूप की उपासना और ध्यान इन्हीं विष्णु और शिवरूप में करने की आज्ञा वेद ने दी है ॥४५॥

नारीधर्मार्थमप्येवं मत्स्वरूपत्रयं सुराः ।

ग्राह्यमादर्शरूपेण विश्वकल्याणसम्पदे ॥४६॥

हे देवतागण नारीधर्म के लिये भी मेरे तीन स्वरुप आदर्श रूप से जगत्कल्याण के लिए अवलम्बनीय हैं ॥ ४६॥

अहमेव महामाया प्रोच्ये भेदविवज्जिता।
गौरी प्रेमप्रधानाऽहं दुर्गा शक्तिमधानिका ॥४७॥

भेद रहित रूप से मैं ही महामाया, प्रेम प्रधाना, मैं ही गौरी और शक्ति प्रधाना मैं ही दुर्गा कही जाती हूँ ॥४७॥

एतद्रूपत्रयं नूनं सती नारी विभर्त्यहो।
पुण्ये भारतवर्षेऽस्मिन्यायजातौ प्रजायते ॥४८॥

जो सती नारी पवित्र भारतवर्ष और आर्यजाति में उत्पन्न होती है, वह इन तीनो स्वरूपों को अवश्य धारण करती है ॥४८॥

आर्यजातौ हि नारीणामादर्शः परमः सती।
जगन्माता महामाया ब्रह्मशक्तिः सनातनी ॥४९॥

आर्यजाति में स्त्रियों की परम आदर्शरूपा जगन्माता महामाया सनातनी ब्रह्मशक्ति सती देवी हैं ॥४९॥

परब्रह्मणि सा नित्यमेवं लीना यतोऽस्तिता।
तस्या भाति पृथङ्नातोऽद्वितीयं ब्रह्म निर्गुणम् ॥५०॥

वे इस प्रकार से परब्रह्म में लीन रहती हैं कि, उनका अस्तित्व अलग नहीं विदित होता है इसी कारण ब्रह्म निर्गुण और अद्वितीय हैं ॥५०॥

शक्तिशक्तिमर्तोभेदं वदन्ति परमार्थतः ।
अभेदश्चानुपश्यन्ति योगिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥५१॥

शक्तिमान् ब्रह्म और ब्रह्मशक्ति महामाया, इन दोनों में भेद यद्यपि कहा जाता है परन्तु वस्तुतः तत्त्वदर्शी योगी लोग दोनों में अभेद देखते हैं ॥५१॥

सत्प्रेम्णैव सती नारी यथा ब्रह्मण्यहं तथा।
पत्यौ तन्मयतामेस पुरुषत्वं प्रपद्यते ॥५२॥

जिस प्रकार ब्रह्मशक्ति ब्रह्म में अभेदभाव से लीन रहती है, उसी प्रकार सत्ती स्त्री उत्तम प्रेम के द्वारा पति में तन्मयता प्राप्त होकर पुरुषत्वको प्राप्त हो जाती है ॥५२॥

प्रेम्णोऽस्ति त्रिविधो भेदस्तत्रायः स ममेत्ययम् ।
अहं तस्येत्ययं मध्यः सोऽहमस्मीति चान्तिमः ॥५३॥

प्रेम के तीन भेद हैं। उनमें से पहला " वह मेरे हैं " यह है, "मैं उनकी हूँ " यह मध्यम अर्थात् द्वितीय है और " वह मैं हूँ " अर्थात् वह और मैं एक ही हूँ यह अन्तिम है ॥ ५३ ॥

इहाद्वैतदशायां हि स्वानुभूत्येकगोचरः।

ब्रह्मणस्तस्य शक्तेश्च भेदाभावः प्रसिध्यति ॥५४॥

इस अन्तिम प्रेम में अद्वैत दशा होती है, जिसमें स्वानुभवमात्रगम्य ब्रह्म और उनकी शक्ति का भेदाभाव (अभिन्नता) सिद्ध होता है ॥५४॥

दाम्पत्यप्रेम्ण एवैषा दशा सर्वोत्तमा मता।
द्वैतसंकुलसंसारे प्रेमाऽयमतिदुर्लभः ॥५५॥

यही दाम्पत्य प्रेम की सर्वोत्तम दशा मानी गई है। द्वैतभावपूर्ण संसार में यह प्रेम अति दुर्लभ है ॥५५॥

परमज्ञानजननी महामायैव सर्वथा।
सर्वोत्तमपतिप्रेम्ण आदर्शो विद्यते स्वतः ॥५६॥

परमज्ञान की जननी महामाया ही सब प्रकार से सर्वोत्तम पति-प्रेम की स्वतः आदर्शरूपा है ॥५६॥

सती द्वैतदशायां हि शिवहृदासिनी शिवा।
नार्यादर्शोऽस्ति तददुर्गा देवीषु परमा मता ॥५७॥

दाम्पत्य प्रेम में यह ही तीन रीतियाँ प्रेम की सर्वोत्तम कही गई हैं- शिवहृदयवासिनी सती शिवा, द्वैतदशा में नारी जाति की आदर्श रूपा है, इसी कारण देवियों में दुर्गा श्रेष्ठ मानी गई हैं ॥५७॥

स ममेत्यहमस्यति परिशुद्धे उभे दशे ।

चरित्रे विमले तस्याः शिवायाः पूर्णतां गते ॥५८॥

" वह मेरे हैं " और " मैं उनकी हूँ " अह दोनों परिशुद्ध दशाएं उन शिवा के विमल चरित्र में पूर्णता को प्राप्त हुई हैं ॥५८॥

अहमस्य भवामीति विज्ञानस्यानुसारतः।
सतीभावे सदा गौरी विद्यारूपैव विद्यते ॥५९॥

"मैं उनकी हूँ " इस विज्ञान के अनुसार सतीभाव में गौरी सदा विद्यारूपा ही है ॥५९॥

अत एव च सा देवी पतिनिष्ठा पतिव्रता ।
पत्युर्निन्दां निशम्यैव स्वकीयं वपुरसजत् ॥६०॥

इसी कारण उन पतिनिष्ठा पतिव्रता देवी ने पति की निन्दा सुनते ही अपना शरीर त्याग कर दिया था ॥६०॥

अनन्यप्रणयेनैव शिवे ब्रह्ममये शिवा।
विद्यास्वरुपा सा देवी वर्तते विमलाशया ॥६१॥

ब्रह्ममय शिव में अनन्य प्रेम से ही परम पवित्रा विद्यास्वरूपा वह शिवा देवी विद्यमान रहती हैं ॥६१॥

सर्वशक्तिमयी दुर्गा स ममास्तीति बोधतः ।
ब्रह्मणो निखिला शक्तिः स्वतस्तत्र प्रकाशते ॥६२॥

"वह मेरे हैं" इस ज्ञान से दुर्गा ब्रह्मशक्तिमयी है। उनमें ब्रह्म की सकल शक्तियां स्वतः प्रकाशित होती हैं। ॥६२॥

कार्तिकेयो वलेशोऽतो गणेशो बुद्धयधीश्वरः ।
लक्ष्मीर्घनेश्वरी विद्याधीश्वरी च सरस्वती ॥६३॥

तस्यास्सन्ति सुतास्तस्यां राजन्ते सर्वशक्तयः ।
बलबुद्धिधनज्ञानरूपापत्यप्रभावतः ॥६४॥

इसी कारण बलाधीश कार्तिकेय, बुद्धयधीश्वर गणेश, धनेश्वरी लक्ष्मी और विद्याधीश्वरी सरस्वती उनकी सन्तान हैं बल, बुद्धि, धन और ज्ञानरूपी अपत्यों के प्रभाव से उनमें सब शक्तियां विराजमान हैं ॥६३-६४ ॥

सती गौरी पृथक् पत्युः सत्ताशून्याऽस्ति तन्मयी।
दुर्गा तु पतिसम्बन्धात् सर्वशक्तिमयी स्थिता ॥६५॥

सती गौरी पति से पृथक अपनी सत्ता नहीं रखतीं, वह तन्मयी हैं अर्थात् पति में तन्मयता को प्राप्त हैं, परन्तु दुर्गा देवी पति के सम्बन्ध से सर्वशक्तिमयी होकर स्थित हैं ॥६५॥

एषा गौरी च दुर्गा च धर्मादशौ यतस्ततः ।
आर्यनारीगणादर्शो जगन्मान्यो न चान्यथा ॥६६॥

यह ही गौरी और दुर्गा नारी धर्म की आदर्श रूपा हैं इसी कारण आर्यनारियों का आदर्श ही जगत में माननीय है ॥६६॥

नृणां प्रवृत्तिधर्मस्य गार्हस्थ्ये पूर्णता यथा।
एवं निवृत्तिधर्मस्य सन्यासाश्रम उज्ज्वले ॥६७॥

जैसे मनुष्यों के प्रवृत्तिधर्म को पूर्णता गृहस्थाश्रम में और निवृत्ति धर्म की पूर्णता उज्ज्वल सन्यास आश्रम में होती है। ॥६७॥

तथैव गृहिणीधर्मे प्रवृत्तेः पूर्णता स्थिता ।
एवं निवृत्तिधर्मस्य नारीणां विधवाव्रते ॥६८॥

वैसे ही गृहिणी धर्म में स्त्रियों के प्रवृत्ति धर्म की पूर्णता स्थित है और स्त्रियों के निवृत्ति धर्म की पूर्णता विधवा व्रत में होती हैं ॥६८॥

न्यूनाधिक्येन सर्वत्र कला यद्यपि मे सुराः।
सर्वेषामेव धर्माणामङ्गोपाङ्गेषु जाग्रति ॥६९॥

हे देवगण यद्यपि मेरी कला थोड़ी बहुत सब धर्मके अङ्गाउपांगो में स्थित है ॥६९॥

तामसेऽङ्गःबजे न्यूना राजसे तु ततोऽधिका ।
कला धर्मस्य विद्यन्ते पूर्य्यन्ते सात्विके स्वतः ॥७०॥

किंतु धर्म के तामसिक अंग उपायों में मेरी थोड़ी कला विद्यमान है, राजसिक अंग उपांगो में उससे अधिक कला विद्यमान है और सात्विक अंग उपांगों में मेरी पूर्ण षोडशकला पूर्ण होकर धार्मिकों को हे देवगण ! पुनरावृत्तिशून्य मुक्ति देने में अवश्य समर्थ होती है ॥७०-७१ ॥

पूर्णा धर्मकला नूनं धार्मिकेभ्यो दिवौकसः !।
पुनरातिशून्यं तत्कैवल्यं दातुमीशते ॥७१॥

तिथिष्वन्यासु सर्वासु द्वितीयादिपु निर्जराः!।
विवर्द्धयन कलाः स्वीयाः शुक्लपक्षे यथा शशि॥७२॥

पूर्यते पौर्णमास्यां हि कलाषोडशकेन च। ।
नारीरूपे तथा देवाः ! कला पोडशका मम ॥७३॥

विकाशं क्रमशो लब्ध्वा षोड़श्यां हि प्रपूर्यते ।
अस्त्येवं सात्त्विको धर्मो विशिष्टः सर्वशक्तितः ॥७४॥

हे देवतागण ! जिस प्रकार शुक्लपक्ष में चन्द्रमा द्वितीया आदि अन्य सब तिथियों में अपनी कलाओं को बढ़ाता हुआ पूर्णिमा के दिन सोलह कलाओं से पूर्ण हो जाता है उसी प्रकार मेरी सोलह कलाएं स्त्रियों में क्रमशः विकास प्राप्त करती हुई षोडशी में (सोलह वर्ष की स्त्री में) पूर्ण हो जाती हैं सात्त्विक धर्म भी उसी प्रकार समस्त शक्तियों से पूर्ण है। ॥७२-७४॥

वर्णधर्मे प्रपूर्णत्वे प्रतिरोधके सति ।
धार्मिकस्वकलानां मे साधिभौतिकशुद्धिकम् ॥७५॥

आत्मज्ञानाधिकारित्वं ब्राह्मणेषूपजायते ।
एवमाश्रमधर्मेऽपि निवृत्तेः पोषके शुभे ॥७६॥

विकाशं क्रमशो गत्वा कलापोडशकं मम ।
सत् सन्यासाश्रमे पूर्ण योगिनस्तत्त्ववेदिनः ॥७७॥

जीवन्मुक्त्यास्पदं नीत्वा नयते मत्स्वरूपताम् ।
वर्णधर्मे ममैवाथ गौरीदुर्गास्वरूपयोः ॥७८॥

आदर्शः प्रकटीभूय नारीदेहेषु मानवान्।
विधत्ते नितरां देवाः ! कृतकृत्यान्न संशयः॥७९॥

प्रवृत्ति रोधक वर्णधर्म में मेरी धार्मिक कलाओं का पूर्ण विकास हो जाने पर ब्राह्मणवर्ण में आधिभौतिक शुद्धि के साथ साथ आत्मज्ञान का अधिकार प्राप्त हो जाता है। उसी प्रकार निवृत्ति पोषक पवित्र आश्रम धर्म में मेरी षोडश कलाओं का क्रमशः विकास होते होते अंत में संन्यास आश्रम में जीवन मुक्ति पद को प्राप्त कराकर तत्त्वज्ञानी योगी को मेरे स्वरूप को प्राप्त करा देता है। वर्ण धर्म में मेरे ही गौरी और दुर्गा के स्वरूपों का आदर्श नारीरूप में प्रकट होकर मनुष्यों को कृतकृत्य करता है, हे देवगण ! इसमें सन्देह नहीं है ॥७५-७९॥

एवमाश्रमधर्मेऽपि विद्यारूपधरा ह्यहम्।
प्रादुर्भूय प्रयच्छामि शान्ते मानसमन्दिरे ॥८०॥

निश्रेयसं मनुष्येभ्योऽभ्युदयश्च निरन्तरम् ।
जीवन्मुक्ता महात्मानः सन्यासाश्रमवर्तिनः ॥८१॥

विश्वमेव स्वरूपं से ज्ञात्वति प्रथमं सुराः ।
सद्भावस्य निमज्जन्ति सम्पूर्णासु कलास्वहो ॥८२॥

विश्वरूपाञ्च मामेव विदित्वा तदनन्तरम् ।
कलाषोड़शकोपेतं परमानन्दसागरम् ॥८३॥

नितान्तमवगाहन्ते सायुज्यं यन्ति मे ततः ।
मत्सायुज्यदशामेत्य पूर्ण चिद्भावमाश्रिताः ॥८४॥

सम्पाप्य ब्रह्मसायुज्यं कृतकृसा भवन्ति ते ।
स्वकलानां रहस्यम्बै प्रोक्तं गृढतमं मया ॥ ८५॥

अन्तिके भवतां देवाः ! नानावैचित्र्यसंकुलम्।
अतीव यदि दुयं गुह्याद्गुह्यतरं तथा ॥८६॥

भवतस्नेहवशाद्देवाः ! साम्प्रतं सम्प्रकाशितम् ।
एतच्छ्रुत्वा विदित्वा च लप्स्यन्ते सांधकाः शिवम् ॥८७॥

उसी प्रकार आश्रम धर्म में भी मैं ही विद्यारूप से मनुष्यों के शान्त मानस मंदिर में प्रकट होकर उनको निरन्तर अभ्युदय और निःश्रेयस प्रदान करती हूँ । हे देवगण ! सन्यास आश्रम में जीवन्मुक्त महापुरुष प्रथम जगत को ही मेरा स्वरूप, जानकर मेरे सद्भाव की पूर्ण कलाओं में निमजन करता हैं। तदन्तर मुझको ही जगद्रप जानकर

षोड़शकला पूर्ण परमानन्दसागर में अवगाहन करता रहता है और अन्त में मेरी सायुज्य दशा को प्राप्त करके मेरे पूर्ण चिद्भाव के आश्रय से ब्रह्म सायुज्य को प्राप्त करके कृतकृत्य हो जाता है। हे देवतागण ! मैंने अतिगूढ़ तम अत्यन्त विचित्रतापूर्ण अपनी कलाओं का रहस्य आप लोगों के समीप वर्णन किया जो अत्यन्त दुर्ज्ञेय और अत्यन्त गोपनीय है, हे देवगण ! आपके स्नेह से मैंने इस समय इसका प्रकाश किया है। इसको सुन और जानकर साधक परम कल्याण प्राप्त करेंगे ॥८०-८७॥

इति श्रीशक्तिगीतासूपनिपत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
महादेवीदेवसम्वादे चित्कलाविज्ञानयोगवर्णनं नाम द्वितीयोऽध्यायः ।

इस प्रकार श्रीशक्तिगीतोपनिषद्के ब्रह्मविद्यासम्बन्धी
महादेवीदेवसम्वादात्मक योगशास्त्रका चित्कलाविज्ञानयोग
वर्णननामक द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ ।

॥ श्रीजगन्मात्रे नमः॥

# ॥ श्री शक्ति गीता ॥

## अथ तृतीयोऽध्याय : तृतीय अध्याय

### वेदकाण्डत्रययोगविज्ञानवर्णनम् ।

देवा ऊचुः ॥ १॥

देवतागण बोले ॥१॥

वेदमातर्जगन्मातर्महायोगेश्वरेश्वरि !।
विज्ञानं ते समाकर्ण्य चित्कलागोचरं ननु ॥२॥

दृष्टिरुन्मीलिताऽस्माकं दिव्या दार्शनिको द्रुतम् ।
साम्पतं ते महादेवि ! वाह्याऽभ्यन्तरतो वयम् ॥ ३॥

श्रोतुं दिदृश्येच्छामो वेदकाण्डत्रयस्य वै।
विज्ञानं दुर्गम योग-रहस्य दुर्लभं तथा ॥४॥

हे जगन्मातः! हे वेदजननि ! हे महायोगेश्वरी की ईश्वरि ! आपकी चित कला का विज्ञान सुनकर हमारे दार्शनिक नेत्र एकाएक खुल गये हैं। अब हम आपको भीतर और बाहर देखने की इच्छा से वेद के

काण्डत्रय का दुर्गम विज्ञान और योग का दुर्लभ रहस्य सुनने की इच्छा करते हैं ॥२-४ ॥

को योगो वेदविज्ञानैस्तत्सम्बन्धश्च कीदृशः।
विस्तरावर्णयित्वैतत्कृतकृत्यान् कुरुष्व नः ॥६॥

योग किसको कहते हैं ? और 'वेदविज्ञान के साथ उसका क्या सम्बन्ध है ? इसको विस्तार से वर्णन करके हमको कृतकृत्य कीजिये ॥५॥

महादेव्युवाच ॥६॥

महादेवी बोलीं ॥ ६॥

अस्म्यहं शक्तिरूपेण योगशक्तिः सुरोत्तमाः ।
सो कर्मोपासनाज्ञान-काण्डत्रयविधानतः ॥७॥

त्रिविधैरधिकारैहि योगशक्तित्रिधा मता।
यदेतल्लक्षणं गीत योगः कर्मसु कौशलम् ॥ ८॥

तन्नूनं कर्मकाण्डीय-योगलक्षणमीरितम् ।
चित्तवृत्तिनिरोधो वै योग एताद्ध लक्षणम् ॥९॥

विज्ञेयं सर्वथोपास्ति-काण्डयोगस्य निर्जराः!।
अज्ञानजनितोपाधि निःशेषमपनोद्य हि ॥१०॥

एकत्वप्रतिपत्तिर्या योगः स्याच्छिवजीवयोः।
अस्त्यतज्ज्ञानकाण्डीय-योगलक्षणमद्भुतम् ॥११॥

हे देवश्रेष्ठ गण ! मैं ही शक्तिरूप से योगशक्ति हूँ। वह योगशक्ति त्रिविध अधिकार भेद से कर्म, उपासना और ज्ञानकाण्ड के अनुसार तीन प्रकार की है। सुकौशल पूर्ण कर्म को योग कहते हैं, यह कर्मकाण्ड का लक्षण है; चित्तवृत्ति निरोध करने को योग कहते है। हे देवतागण! यह लक्षण सर्वथा उपासना काण्ड का जानो और अज्ञानजनित उपाधि को निःशेष हटाकर जीवात्मा और परमात्मा को एकीकरण करने को योग कहते हैं, यह ज्ञानकाण्ड का अद्‌भुत लक्षण है। ॥७-११ ॥

त्रयाणामिह काण्डानामुक्तानामनुरोधतः।
त्रैविध्यं धारणायाश्च जानीत सुरसत्तमाः ! ॥१२॥

हे देवश्रेष्ठौ ! इसी कारण इन तीनों काण्डों के अनुसार मेरी धारणा भी तीन प्रकार की जाननी चाहिए ॥१२॥

भावयन्तः कर्मतत्त्वं पराभक्त्यधिकारिणः।
अस्त्येवतज्जगद्ब्रह्म धारणामीदृशी मम ॥१३॥

सर्वथा सर्वदा देवाः ! कुर्वते कर्मयोगिनः ।
मत्पराभक्तिनिष्णाता मद्भक्ता योगिनां वराः ॥१४॥

ब्रह्मैवास्ते जगत्सर्वमिति धारणयाऽनिशम् ।
महात्मानो निरीक्षन्ते विश्वास्मिन सुरसत्तमाः !॥१५॥

हे देवश्रेष्ठों ! कर्म के तत्वदर्शी मेरी पराभक्ति के अधिकारी कर्मयोगी गण "जगत् ही ब्रह्म है" मेरी ऐसी धारणा सर्वदा सर्वथा करते हैं, "ब्रह्म ही जगत् है" ऐसी धारणा से मेरी पराभक्ति में निष्णात योगिश्रेष्ठ महात्मा भक्तगण अहर्निश इस जगत् में मुझे देखते हैं॥१३-१५॥

'अहं ब्रह्मास्मि' भो देवाः इति या धारणाऽस्ति मे।
जीवन्मुक्ता महात्मानस्तदा तां प्राप्तुमीशते ॥१६॥

यदैकत्वं मया साद्ध लभन्ते ज्ञानयोगतः।
यः प्रति निवृत्तिञ्च द्वे फले सम्प्रयच्छति ॥१७॥

स द्विधा कर्मयोगोऽयं विभक्तोऽस्ति दिवौकसः !।
अन्तर्ग कर्मयोगस्य हवस्थाद्वयमेव तत् ॥१८॥

"मैं ही ब्रह्म हूँ " ऐसी धारणा को जीवन्मुक्त महापुरुष तब प्राप्त करने में समर्थ होते हैं जब ज्ञानयोग से मेरे साथ तदाकार भाव को ग्रहण करते हैं। जो प्रवृत्ति और निवृत्ति फल देनेवाला कर्मयोग है, हे देवतागण, वह दो भागों में विभक्त है। दोनों ही अवस्थाएँ कर्मयोग के अन्तर्गत हैं ॥१६-१८॥

सकामासक्तिवीजन कर्मयोगेन चैकतः।
जायते जगदश्वत्थ-वृक्षो द्वन्द्वात्मकः क्षयी ॥१९॥

एक सकामासक्ति रूपी बीज से कर्मयोग के द्वारा द्वन्द्व मूलक नाशवान् जगद्वपी अश्वत्थ वृक्ष उत्पन्न करता है ॥१९॥

यः परीणामशीलोऽपि ददात्यभ्युदयं फलम् ।
निष्कामत्वस्वरूपेण वीजेन कर्मयोगतः ॥२०॥

परमानन्दभावस्य द्योतकोऽनश्वरोऽन्यतः।
जायते मधुरोदर्कः प्रबोधः कल्पपादपः ॥२१॥

यस्मानिःश्रेयसं देवाः ! फलमुत्पद्यतेऽमृतम् ।
कर्मयोगविभागाभ्यामाभ्यां द्वाभ्यां निरन्तरम् ॥२२॥

'द्वै फले फलतो नूनं कैवल्याभ्युदयाविति ।
हित मद्वचनं भूयो देवाः ! सर्वेनिशम्यताम् ॥२३॥

जो परिणामी होने पर भी अभ्युदय रूपी फल को देता है। दूसरा निष्काम भाव रूपी बीज से कर्मयोग के द्वारा परमानन्द भाव प्रकाशक अपरिणामी प्रबोध रूपी मधुर कल्पवृक्ष को उत्पन्न करता है, हे देवतागण ! जिससे निःश्रेयसरूपी अमृत फल की उत्पत्ति होती है। कर्मयोग के इन दो विभागों से निरन्तर अभ्युदय और निःश्रेयसरूपी दो फल अवश्य प्रकट होते हैं। देवतागण ! पुनः आप लोग मेरी हित की बात सुनो ॥२०-२३॥

शक्तौ हि कर्मयोगस्यानुस्यूता सर्वथा सती ।
सकामकर्मयोगिभ्यो नूनमभ्युदयं ददे ॥२४॥

निष्कामकर्मयोगिभ्यस्तथा निःश्रेयसं पदम् ।
बोध्यैपोपनिपत्कर्म-काण्डयोगस्य शाश्वती ॥२५॥

मैं कर्मयोग की शक्ति में सर्वथा अनुस्यूत रहकर सकाम कर्मयोगी को अभ्युदय और निष्काम कर्मयोगी को नि:श्रेयस अवश्य प्रदान करती हूँ। यही कर्मकाण्ड योग की सनातनी उपनिषत है। ॥२४-२५॥

प्रतिमूलकं देवाः ! सकामं कर्म वर्तते ।
नानाधिकारभेदेभ्यो बहुशाखासमन्वितम् ॥२०॥

अत एव च पुण्यानां यथाकालमहं हृदि ।
ऋषीणां सम्पविश्यैव वेदांत्रगुण्यगोचरान् ॥२७॥

प्रकाशयाम्यनेकाभिः शाखाभिः समलकृतान्।
सम्प्रदायविभिन्नत्वमहमाश्रित्य नैकशः ॥२८॥

नानाधिकारिमृत्येभ्योऽभ्युदयं प्रदेऽमराः! ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकैव वर्तते खलु ॥ २९ ॥

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ।
निवृत्तिमूलकस्त्वेको निष्कामकर्मयोगकः ॥ ३० ॥

निर्विकारोऽभयोऽद्वैतो निर्विकल्पोऽस्त्यसंशयम् ।
वासनायाश्चञ्चलत्वं किञ्चिन्नैवात्र विद्यते ॥३१॥

हे देवतागण! प्रवृत्तिमूलक सकाम कर्म अनेकों अधिकार भेद के कारण अनेक शाखाओं से युक्त है। इसी कारण मैं समय समय पर पवित्र ऋषियों के अन्तःकरण में प्रवेश करके त्रिगुणात्मक वेदों को अनेक शाखाओं में प्रकट करती हूँ और इसी कारण हे देवतागण ! मैं ही धर्म के अनेक सम्प्रदाय बनकर विभिन्न अधिकार के मनुष्यों को अद्भुदय प्रदान करती हूँ। व्ययसायात्मिका (निष्काम कर्मयोग रूपा) बुद्धि एक प्रकार की ही होती है परन्तु सकाम कर्मिमयों की बुद्धि बहु शाखाओं से युक्त अनन्त होती हैं । इसलिए निवृत्ति मूलक निष्काम कर्मयोग निस्सन्देह एक, अद्वैत, निर्विकार, निर्भय और विकल्परहित है इसमें वासना की चञ्चलता कुछ भी नहीं है ॥२९-३१॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥३२॥

इसमें अभिक्रम का नाश भी नहीं है और न कोई प्रत्यवाय ही है, इस धर्म का थोड़ा भी अंश महाभय से रक्षा करता है ॥३२॥

यद्यप्यस्मि प्रतिष्ठात्री धर्मयोरुभयोरहम् ।
प्रवृत्तिमूलकस्याथ निवृत्तिमूलकस्य च ॥३३॥

यद्यपि मैं प्रवृत्ति धर्म और निवृत्ति धर्म दोनों की प्रतिष्ठा की स्थान हूँ ॥३३॥

मामेव प्राप्नुतो देवाः! द्विविधौ कर्मयोगिनौ।
पार्थक्यं नापि किञ्चिच द्वयोर्वाह्ये प्रतीयते ॥३४॥

वासनानोदितः कर्मी यथैव कुरुतेऽवशः।
अधिकारी सकामस्य कर्मयोगस्य कर्म यत् ॥ ३५ ॥

तनिष्कामव्रतस्नातः कर्मयोगी स्वभावतः।
विधत्ते लोकशिक्षार्थ ज्ञानानुस्यूतमानसः ॥ ३६॥

और हे देवगण ! दोनो श्रेणी के कर्मयोगि गण मुझको ही प्राप्त होते हैं और बहिःस्वरूप में दोनों की कुछ भी पृथक्ता प्रतीत नहीं होती क्योंकि सकामी अधिकारी जिस कर्म को वासना की प्रेरणा से अवश होकर करता है, निष्कामव्रत दीक्षित कर्मयोगी उसी कर्म को स्वाभाविक रूप से ज्ञान में अनुस्यूत रहकर लोक शिक्षा के लिये करता है। ॥३४-३६ ॥

भावासक्तिपृथग्भावादत्यन्तात्तु द्वयोरहम् ।
साधारणविशेषाख्यौ धौ संस्थापये क्रमात ॥३७॥

परन्तु उन अधिकारियों में आसक्ति और भाव की अत्यन्त पृथक्ता होने के कारण मैं उनमें यथाक्रम विशेष और साधारण धर्म को स्थापित करती हूँ ॥३७॥

नैके विशेषधर्मस्य ह्यधिकारा भवन्त्यतः।
नास्ति साधारणे धर्मे त्वधिकारविभिन्नता ॥३८॥

यही कारण है कि विशेष धर्म में अधिकार अनेक हैं और साधारण धर्म में अधिकार विभिन्नता नहीं है॥३८॥

यथा रोचेत वो देवाः ! कर्मयोग तथाविधम् ।
निःश्रेयसं समाश्रित्याऽभ्युदयं वाप्यवानुत ॥३९॥

हे देवतागण ! आपलोगों की जैसी रुचि हो उसी प्रकार के कर्मयोग का आश्रय करके अभ्युदय या निःश्रेयस प्राप्त करें ॥३९॥

तिम्रो यद्यपि जीवानामस्म्यहं गतयो ध्रुवम् ।
कृष्णशुक्ले तथापि स्तः प्रवृत्तिमूलिके गती ॥४०॥

सहजाख्यगतेरस्ति ह्यधिकारस्तु केवलम् ।
योगस्थानां सुशान्तानां निष्कामवतशालिनाम् ॥४१॥

यद्यपि जीवों की त्रिविध गति मैं ही हूँ तथापि कृष्ण और शुक्ल गति प्रवृत्तिधर्म मूलक है और सहजगति के अधिकारी शान्त निष्काम कर्मयोगी ही केवल हो सकते हैं।॥४०-४१॥

सुखानन्दस्वरूपाभ्यामहमेव निरन्तरम।
निखिलोपासकान देवाः ! कर्मयोगे प्रवर्तये ॥४२॥

हे देवगण ! मैं ही सुख और आनन्दरूप से उपासकों को कर्मयोग में निरन्तर प्रवृत्त कराती हूँ॥४२॥

सुस्वमेतद्धि जानीत विपयानन्दमूलकम् ।
आनन्दो विद्यते नूनं मत्स्वरूपं न संशयः ॥४३॥

सुख को विषयानन्दमूलक जानो और आनन्द मेरा ही स्वरुप है इसमें संदेह नहीं ॥४३॥

ये ममोपासकास्सन्तो योगिनो मद्विभूतिषु ।
मच्छक्तिष्वपि मुह्यन्ति दक्षिणास्सन्ति तेऽपि च ॥४४ ॥

मेरे उपासक योगिगण जो मेरी विभूति और शक्तियों में ही मुग्ध रहते हैं वह भी उदार हैं ॥४४॥

मद्विभूतिमनिच्छंस्तु शक्तिमप्यैश्वरीं मम।
योग साध्यो प्नोति यो नित्यं केवलं मदवाप्तये ॥४५॥

निष्कामयोगनिष्ठोऽसौ ज्ञानी स्वात्मैव मे मतम् ।
आर्तो जिज्ञामुरार्थी भक्ता मे त्रिविधा इमे ॥४६॥

अध्वनीनाः सकामस्य भक्तियोगस्य सन्ति हि।
चतुर्थो ज्ञानिभक्तस्तु मत्स्वरूपो न संशयः ॥४७॥

परन्तु जो मेरी विभूति और ऐशी शक्तियों की इच्छा न रख कर केवल मेरी ही प्राप्ति के लिये योगसाधन नियमित करते हैं वह निष्काम योगनिष्ट ज्ञानी मेरी आत्मा ही है। आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी यह तीन प्रकार के मेरे भक्त सकाम भक्तियोग के पथिक हैं और चतुर्थ ज्ञानी नामक भक्त मेरा ही स्वरूप है इसमें सन्देह नहीं ॥४५-४७॥

सर्वास्वभ्युदयस्यापि बीजेपु योगसिद्धिषु।
मत्सायुज्यदशाप्राप्तौ वाधिकास्ता न साधिकाः ॥४८॥

सभी योगसिद्धियां अभ्युदय की मूल होने पर भी वे मेरी सायुज्य दशा प्राप्ति कराने में बाधक हैं साधक नहीं है। ॥४८॥

पराभक्तेविरोधिन्यो विद्यन्तेऽत्यन्तमेव च।
ऐशीनां खलु सिद्धीनां शक्तीनामपि सर्वशः ॥४९॥

हेतुतवं बहते प्रासः संयमो विबुधर्षभाः!।
मदवाप्तचेकतत्त्वाभ्यासः कारणतां व्रजेत् ॥५०॥

और पराभक्ति की अत्यन्त - विरोधिनी हैं। हे देवश्रेष्ठों ! ऐशी सिद्धियों और विभिन्न शक्तियों को प्राप्त कराने में संयम कारण है और मुझको प्राप्त कराने में एकतत्त्वाभ्यास कारण है ॥४६-५०॥

योगः स्वरूपतो नूनमष्टाङ्गेषु विभज्यते ।
यमश्च नियमश्चैव तथैवासनमेव च ॥५१॥

प्राणायामस्तथा देवाः ! प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं समाधिरित्यष्टौ योगस्याङ्गानि सन्ति ह ॥५२॥

हे देवगण ! योग स्वरूपतः आठ अंगों में ही विभक्त है, यथा-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार धारणा, ध्यान और समाधि ॥५१-५२॥

एकतत्त्वैकमूलस्सन्नन्यः संयममूलकः।
अयमष्टाङ्गयोगो हि षोड़शाङ्गैः प्रपूर्यते ॥५३॥

यही अष्टांग योगसंयम और एकतत्त्व मूलक होकर षोडश अंगों से पूर्ण होता है ॥५३॥

मन्त्रो हठो लयो राजयोग एते चतुर्विधाः।
क्रियासिद्धांशभेदा वै सन्ति योगस्य निर्जराः !॥५४॥

हे देवतागण ! योग के क्रिया सिद्धांश के चार भेद हैं, यथा-मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राज योग ॥५४॥

निरोधश्चित्तवृत्तीनां नामरूपावलम्बनात् ।
साध्यते साधकैर्यत्र मन्त्रयोगः स उच्यते ॥५५॥

नाम और रूप की सहायता से साधकों के द्वारा चित्त वृत्तियों का निरोध जिसमें किया जाता है उसको मन्त्रयोग कहते हैं ॥५५॥

नैकासाश्चैव मूर्तीनामध्यात्मभावसंयुजाम्।
आश्रयाद्ध्यायमाना हि मन्त्रयोगविधानतः ॥५६॥

मन्त्रयोगपरा धीराः साधका मामुपासते ।
साहाय्यात्स्थूलदेहस्य चित्तत्तिनिरोधनम् ॥५७॥

यत्र संसाध्यते धीरैर्हठयोगः स ईर्यते ।
ज्योतिर्मयस्य रूपस्य कल्पितस्यावलम्बनात् ॥५८॥

ध्यायमानाश्च मां सिद्धार्लभन्ते हठयोगिनः ।
शक्तीर्जड़त्वमापन्नाः प्रमुप्तास्ता वियोध्य हि ॥५९॥

समष्टिव्यष्टिशक्तीनां साहाय्यादयत्र साध्यते।
चित्तवृत्तिनिरोधोऽसौ लययोगो निगद्यते ॥६०॥

विभिन्न अध्यात्म भाव युक्त मूर्तियों के द्वारा ध्यान करते हुए मन्त्रयोग में प्रवीण धीर साधक गण मन्त्रयोग की सहायता से मेरी उपासना करते हैं। धीर व्यक्तियों के द्वारा स्थूल शरीर की सहायता से चित्तवृत्तियों का निरोध जिसमें किया जाता है उसको हठयोग कहते हैं। हठयोगी गण कल्पित ज्योतिर्मय रूप की सहायता से मेरा ध्यान करते हुए सिद्धियों को लाभ करते हैं। समष्टि और व्यष्टि शक्तियों की सहायता से जड़भाव प्राप्त प्रसुप्त शक्तियों को जगाकर चित्तवृत्ति निरोध करने को लययोग कहते हैं। ॥५६-६० ॥

साक्षादाध्यात्मिकं विन्दु-मयं मे रूपमद्भुतम् ।
दृष्ट्वा कृतार्थतां यान्ति तत्क्षणं लययोगिनः ॥६१॥

लययोगी मेरे आध्यात्मिक बिन्दुमय अद्भत रूप का प्रत्यक्ष दर्शन करके उसी समय सफल मनोरथ होते हैं ॥६१॥

नित्यानित्यस्वरूपाणां पदार्थानां विवेकतः।
त्रिगुणानां त्रिभावानामपि नित्यं विमर्शतः ॥६२॥

शक्तिमाध्यात्मिकी यत्र हितां प्राप्नुवतां स्वतः।
निरोधश्चित्तवृत्तीनां जायते योगिनां सताम् ॥६३॥

कथितो राजयोगोऽसौ सर्वयोगशिरोमणिः ।

पराभक्त्यधिकारं मे भक्ताश्च ज्ञानिनो गताः ॥६४॥

साहाय्याद्राजयोगस्य लभन्ते राजयोगिनः।
ममाध्यात्मस्वरूपं हि साक्षावकृत्यान्ततश्च माम् ॥६५॥

नित्यानित्य-वस्तुविवेक और त्रिगुण तथा त्रिभावों के सर्वदा विचार द्वारा हितकारिणी आध्यात्मिक शक्ति लाभ करते हुए श्रेष्ठ योगियों की चित्तवृत्तियों का निरोध स्वतः हो जाने को राजयोग कहते हैं जो सब योगों में शिरोमणि है। मेरी पराभक्ति के अधिकारी राजयोगी ज्ञानी भक्त गण राजयोग की सहायता से मेरे अध्यत्मस्वरूप का साक्षात्कार करके अन्त में मुझको प्राप्त होते हैं ॥६२-६५॥

एताश्चतुर्विधा एव मोक्ताः साधनरीतयः ।
ममोपास्तेः सदा देवा मूलभित्तय ईरिताः ॥६६॥

हे देवतागण ! यह ही उक्त चार प्रकार की साधन शैली सदा मेरी उपासना की मूलभित्ति कही गई है॥६६॥

चतुर्णाश्चैव योगानामेतेषां निखिलाः क्रियाः।
विद्यन्ते विबुधश्रेष्ठाः ! योगाङ्गाष्टकमूलकाः ॥६७॥

और हे श्रेष्ठ देवगण ! इन चार योगों की सब क्रियाएँ ही अष्टांग योगमूलक हैं ॥६७॥

संयमश्चैकतत्त्वञ्च द्वयोः सम्बन्धसंजुषाम् ।
विभेदेन प्रयोगाणामेतद्योगचतुष्टयम् ॥६८॥

विभुर्त्ते क्षमते देवाः ! कलापोडशकं मम ।
नैवात्र विस्मयः कार्यो युष्माभिर्देवसत्तमाः ॥६९॥

ये चारों योग संयम और एकतत्त्व से सम्बन्ध युक्त प्रयोगों के विभेद से मेरी षोडश कलाओं को धारण कर सकते हैं, हे देवश्रेष्ठों ! आप लोगों इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं करना चाहिए ॥६८-६९॥

विकाशो ज्ञानिभक्तेषु कलाषोड़शकस्य मे।
स्वभावसिद्ध एवास्ते ज्ञानिभक्ता: परन्त्वमी ॥७०॥

अनन्यभक्तियोगन ध्यायन्ते मां सदा ध्रुवम् ।
अतः सदाऽवतिष्ठन्ते वासनारहिता इमे ॥७१॥

मच्चिता मद्गतमाणा मदध्याना मत्परायणाः।
मयर्पितात्मसर्वस्वा मद्गतात्मधियोऽमलाः ॥७२ ॥

अपि मय्यनुरक्ताश्च जायन्ते सर्वदैव ते ।
ज्ञानिनां मम भक्तानां नास्ति भेदो मया सह ॥७३॥

त एवाहमहो देवाः ! अहमेव च ते मताः।
नात्र कश्चन सन्देहः सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ॥७४॥

मेरे ज्ञानिभक्तों में पूर्ण षोड़श कलाओं का विकाश होना स्वभावसिद्ध है परन्तु वे ज्ञानी भक्त मुझमें अनन्य भक्ति युक्त हो सदा ध्यान करते हैं अतः वह सदा वासनाओं से रहित रहते हैं। वह मुझमें अनुरक्त, मद्तचित्त, मद्गतप्राण, मेरे ध्यान में तत्पर, मत्परायण, मुझ

में ही अपना सर्वस्व अर्पित करने वाले और मुझ में ही अपनी बुद्धि लगाये हुए सर्वदा निर्मल चित्त होते हैं । मेरे ज्ञानी भक्तों में और मुझ में भेद नहीं है। हे देवगण ! वह ही मैं और मैं ही वह हूँ। मैं सत्य सत्य कहती हूँ इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥७०-७४ ॥

जीवभूमेः समारोढुं ब्रह्मभूमि मुखं सुराः।
अष्टसोपानतुल्यानि योगाङ्गान्यष्ट सन्त्यलम् ॥७५॥

हे देवतागण ! जीवभूमि से ब्रह्मभूमि पर सुखपूर्वक चढ़ने के लिये अष्टांग योग ही आठ सीढियां हैं ॥७५॥

समाधिरन्तिमं येषामारोहणमुदाहृतम् ।
सोपानमादिमं देवाः ! येषां हि विद्यते यमः ॥७६॥

हे देवगण ! जिनमें अन्तिम सोपान समाधि और प्रथम सोपान यम है ॥७६॥

स्थूलदेहस्य सम्बन्धाच्छुद्धिराध्यात्मिकी तु या।
साध्यते साधकैर्देवाः ! आहुस्तं योगिनो यमम् ॥७७॥

हे देवतागण ! स्थूल शरीर-सम्बन्धसे साधकों के द्वारा आध्यात्मिक शुद्धि सम्पादन करने को योगीजन यम कहते हैं। ॥७७॥

ब्रह्मचर्य बहिःशौचो ह्याहिंसा सत्यमुत्तमम् ।
सर्वभूतदयाऽस्तेयं मिताहारोऽपरिग्रहः ॥७८॥

शारीरिकं तपो देवा दानं तु सात्विकन्तथा ।
प्रधानान्येवमादीनि साधनानि यमस्य हि ॥७९ ॥

हे देवगण ! ब्रह्मचर्य, बहिःशौच. अहिंसा, सत्य, सब जीवों पर दया, अस्तेय[1], मिताहार, अपरिग्रह, शारीरिक तप और सात्विक दान इत्यादि यम के प्रधान साधन हैं ॥७८-७९॥

नियमो योगसोपानं द्वितीयं सम्प्रकीर्तितम् ।
सूक्ष्मदेहाश्रयायैस्तु साधनैः साधकैध्रुवम् ॥८०॥

लभ्यतेऽध्यात्मसंशुद्धिस्तमाहुनियमं सुराः ।
अन्तःशौचश्च सन्तोपः स्वाध्यायो मानसं तपः ॥८१॥

आस्तिक्यमार्जवं ह्रीश्च क्षमा चापि धृतिस्तथा ।
देवपितृभक्तिश्च नियमस्यापि निर्जराः ॥८२॥

प्रधानान्येवमादीनि विद्यन्ते साधनान्यहो ।
तृतीयारोहणं विज्ञा आसनम्परिचक्षते ॥८३॥

नियम योगका दूसरा सोपान कहा गया है। हे देवगण ! सूक्ष्म शरीर के सम्बन्ध से आध्यात्मिक-शुद्धि प्राप्ति के साधनो को नियम कहते हैं। अन्तःशौच, सन्तोष, स्वाध्याय, मानसिक तप, आस्तिकता, आर्जव, लज्जा, क्षमा, धैर्य और देवता ऋषि पितरों में भक्ति इत्यादि नियम के प्रधान साधन हैं। विद्वान लोग आसन को तृतीय सोपान कहते हैं ॥ ८०-८३ ॥

यत्र संस्थापयेदेवं शरीरं सुखपूर्वकम् ।
यतः स्यान्मनसः स्थैर्य वायोश्चापि सुरर्षभाः ! ॥८४॥

[1] चोरी नहीं करना

आसनं तद्विजानीत साधनेषु मुखावहम् ।
आसनस्य वहून्भेदान् योगाचार्याः प्रचक्षते ॥८५॥

निखिलास्तेऽवगन्तव्याः पूज्यन्घ्रे श्रीगुरोर्मुखात्।
किञ्चिदनापि वक्ष्येऽहं श्रूयतां देवपुङ्गवाः !॥८६॥

हे देवश्रेष्ठौ ! शरीर को इस प्रकार सुखपूर्वक स्थापित किया जाए जिससे मन और वायु का स्थैर्य उत्पन्न हो और जो साधन में सुखदायी हो उसको आसन कहते हैं । योगवित् आचार्यगण आसन के अनेक भेद बतलाते हैं उन सबको पूज्यपाद श्रीगुरुदेव के मुखसे जानना चाहिये। मैं यहां भी कुछ कहती हूँ, हे देवश्रेष्ठ! आप लोग सुने। ॥८४-८६॥

सिद्धं पद्मासनं देवाः ! स्वस्तिकासनमेव च ।
आसनानि प्रधानानि त्रीण्येतानि नियोधत ॥८७॥

हे देवगण ! सिद्धासन, पद्मासन और स्वस्तिकासन, इन्हें प्रधानतः आसन के तीन भेद जानना चाहिए॥८७॥

प्राणायामश्चतुर्थं वै योगारोहणमुत्तमम् ।
विधारणेन प्राणानां तथा प्रच्छद्यनेन च ॥८८॥

यदवंशीकरणं नूनं प्राणायामः स उच्यते ।
अनेकभेदसत्त्वेऽपि भेदा अष्ट प्रधानतः ॥८९॥

सहितः सूर्यभेदी च तथोज्जायी च शीतली ।

भ्रामरी भस्त्रिका मूर्छा केवली च सुरर्षभा: ! ॥९०॥

प्राणायामस्य तत्त्वज्ञैर्योगाचायः कृता इति ।
एतदुक्तं तु योगस्य यमाग्रङ्गचतुष्टयम् ॥९१॥

बाह्यराज्यसुसम्बन्धि वर्तते विबुधर्षभाः ।
अन्ताराज्यमुसम्बन्धियोगाङ्गान्यधुना ब्रुवे ॥९२॥

प्राणायाम उत्तम चतुर्थ सोपान है । प्रच्छह्नन और विधारण द्वारा प्राण को वशीभूत करने का नाम प्राणायाम है। हे देवगण ! प्राणायामके अनेक भेद होने पर भी योगाचार्यों ने प्रधानतः उसके आठ भेद, किये हैं; यथा-सहित, सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली, भ्रामरी, भस्त्रिका, मूर्छा और केवली । योग के पूर्वोक्त यमादि चार अङ्ग बहिराज्य से सम्बन्ध रखने वाले हैं। अब अन्तर राज्य से सम्बन्ध रखनेवाले चार अङ्गों का वर्णन करती हूँ ॥८८-९२॥

प्रत्याहारं हि जानीत पञ्चमारोहणं सुराः!।
यथा कूर्मो निजाङ्गानि स्वस्यैव पृष्ठकोटरे ॥९३॥

प्रत्याहरति रक्षार्थे तथैव योगिनो वराः।
अभ्यस्यन्ति समाकष्टु प्रवृत्ति विषयानुगाम् ॥९४॥

स्त्रीयां यद्विषयान्नूनं प्रत्याहारः स उच्यते ।
एनं वदन्ति विद्वांसो योगपकनभास्करम् ॥१५॥

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु निरर्गलम् ।
बलादाहरणं तेभ्यः प्रत्याहारोऽभिधीयते ॥९६॥

हे देवगण ! प्रत्याहार को पञ्चम सोपान जानो। कछुआ जिस प्रकार अपने अङ्गोको अपनी रक्षाके लिये अपने पृष्ठकोटर में छिपाता है, उसी प्रकार श्रेष्ठ योगिगण अपनी विषयवती प्रवृत्ति को विषयों से खींचने का अभ्यास करते हैं उसको प्रत्याहार कहते हैं । विषयोंमें अनर्गल रूप से प्रवृत्त इन्द्रियों को विषयों से हठात् खींचने का नाम प्रत्याहार है । यह साधन योगपंकज के लिये सूर्य रूप है ॥९३-९६॥

बाह्यालम्बनसाहाय्यात् तथान्तरबलम्बनात ।
प्रत्याहारो द्विधा प्रोक्तो बाह्याऽभ्यन्तरभेदतः ॥९७॥

बहिरबलम्बन और अन्तरबलम्बन भेद से वह प्रत्याहार दो प्रकार का है ॥९७॥

धारणा षष्ठसोपानं योगस्य समुदाहृतम् ।
यदा धृत्या तु भो देवाः योगिनो योगयुक्तया ॥१८॥

चित्तमान्तरिके राज्ये स्वीयं संयमपूर्वकम् ।
प्रतिष्ठापयितु सम्यगभ्यस्यन्ति निरन्तरम् ॥९९॥

धारणा सैव विज्ञेया योगाधारस्वरूपिणी।
धारणायास्तु भेदौ द्वौ व्याहतौ योगवित्तमैः ॥१००॥

धारणा षष्ट सोपान कहा गया है। जब योगी योग युक्त धृति द्वारा अपने अन्तःकरण को अन्तर राज्य में संयमपूर्वक स्थापित करने का अभ्यास सम्यक्तया निरन्तर करते हैं उसको धारणा कहते हैं। वह योग की आधार स्वरुप है, श्रेष्ठ योगिगण धारणा के दो भेद कहते हैं ॥९८-१०० ॥

विषयालम्विनी ह्येका त्वपरात्मावलम्बिनी।
विषयालम्बनादेवाः ! जायते या तु धारणा ॥१०१ ॥

केवलं साधकानां सा भवेत्सिद्धिप्रदायिनी ।
आत्मावलम्बनाया तु धारणोत्पद्यतेऽपरा ॥१०२॥

योगयुंजनचित्तेभ्यो मुक्तिं मा सम्प्रयच्छति ।
सोपानपुंज सत्त्वेऽपि ध्यानदा धारणैव हि ॥१०३॥

एक विषयावलम्बन से धारणा और दूसरी आत्मावलम्बन से धारणा। हे देवतागण ! विषयावलम्बन से जो धारणा होती है वह साधकों को केवल सिद्धिप्रद है और आत्मावलम्बन से जो दूसरी धारणा होती है वह योगाभ्यासियों को मुक्तिप्रद है। अनेक सोपान होने पर भी धारणाभ्यास से ही ध्यान होता है ॥१०१-१०३॥

सोपानं सप्तमं ध्यानं सर्वस्वं योगिनामिदम् ।
ध्येयमात्राश्रयादयत्तु प्रतिष्ठां लब्धुमात्मनि ॥१०४॥

चित्तस्यैय्यै विधीयेत तदध्यानमभिधीयते।
समावेधर्यानमेवेदमेकमात्रन्तु कारणम ॥१०५॥

योगियों का सर्वस्व सप्तम सोपान ध्यान है । आत्मा में प्रतिष्ठा लाभ करने के लिये जो एकमात्र ध्येय के अवलम्बन से चित्त का स्थैर्य उत्पन्न किया जाय उसको ध्यान कहते हैं। ध्यान ही समाधि का एकमात्र कारण है ॥१०४-१०५॥

ध्यानसिद्धिं विना योगी न कदाचित्कथञ्चन।
लब्धुम्ह्रति कुत्रापि कृतार्थत्वं कुतश्चन ॥१०६ ॥

ध्यानसिद्धि के बिना योगी कहीं भी, किसी प्रकार, कदापि, कृतकृत्य' नहीं हो सकता ॥१०६॥

ध्येयवैचित्र्यतो नूनं ध्यानं ज्ञेयं चतुर्विधम्।
मन्त्रयोगिगणाः स्थूल-ध्यानं हि हठयोगिनः ॥१०७॥

ज्योतिर्धायनं तथा बिन्दु-ध्यानन्तु लययोगिनः ।
राजयोगिगणा देवाः ! ब्रह्मध्यानं प्रकुर्वते ॥१०८॥

स्वध्येयानां प्रकुर्वाणा ध्यानन्ते विधिपूर्वकम् ।
ध्यायमानास्तु मामेव कृतकृत्या भवन्त्यहो ॥१०९॥

ध्येय के वैचित्र्य के विचार से ध्यान चार प्रकार का होता है। मन्त्रयोगी स्थूलध्यान, हठयोगी ज्योतिर्ध्यान, लययोगी बिन्दुध्यान और राजयोगिगण ब्रह्मध्यान के द्वारा अपने अपने ध्येयों का विधिपूर्वक ध्यान करके मेरा ही ध्यान करते हुए कृतार्थता को लाभ करते हैं ॥१०७-१०९॥

समाधिरन्तिमं देवाः ! योगारोहणमष्टमम् ।
एकतश्चित्तवृत्तीनां निरोधोऽशेपतो भवेत् ॥ ११० ॥

द्वितीयतस्तु भो देवाः ! प्रकाशो द्रष्टुरात्मनः ।

यया साधनया नूनं जायते स्वस्वरूपतः ॥१११॥

प्रचक्षते समाधि त योगतत्वविशारदाः।
सविकल्पः सुपर्वाणः ! निर्विकल्पस्तथैव च ॥११२॥

समाधोद्विविधो भेदो भण्यते योगकोविदः।
पुनरावर्तते योगी सविकल्पसमाधितः ॥११३॥

अमाधिः शाश्वती मुक्ति निर्विकल्पस्तु यच्छति ।
अतो वदन्ति विद्वांसो योगतत्वानुचिन्तकाः ॥११४॥

निर्बीजं निर्विकल्पन्तु सविकल्पं सवीजकम् ।
शुक्लगत्या यया लभ्य ऊर्द्धवलोकव्रजोखिलः॥११५॥

सैव शुक्ला गतिर्देवा एति तेषामधीनताम् ।
सविकल्पसमाधौ ये तस्थिवांसो हि योगिनः॥११६॥

जीवन्मुक्ताः परा भक्ता ज्ञानिनः सहजां गताः।
प्रभवन्यधिकर्तु मे समाधि निर्विकल्पकम ॥ ११७॥

हे देवगण ! समाधि अष्टम और अन्तिम सोपान है। एक ओर चित्तवृत्ति का पूर्ण निरोध और दूसरी ओर द्रष्टा आत्मा का अपने स्वस्वरूप में प्रकाश जिस साधन के द्वारा हो योगतत्त्वज्ञ उसको समाधि कहते हैं। समाधि के दो भेद योगिश्रेष्ठ कहते हैं, यथा-सविकल्प समाधि और निर्विकल्प समाधि। सविकल्प समाधि से योगी की पुनरावृत्ति होती है परन्तु निर्विकल्प समाधि शाश्वत मुक्ति देनेवाली है। इस कारण योगतत्त्वज्ञ विद्वान् सविकल्प को सबीज और निर्विकल्प को निर्बीज

भी कहते है । सब उधर्वलोकों की प्राप्ति जिस शुक्ल गति के द्वारा होती है, वह गति सविकल्प समाधिस्थ योगियों के अधीन है परन्तु सहजगति प्राप्त जीवन्मुक्त मेरे ज्ञानी भक्त निर्विकल्प समाधि के अधिकारी होते हैं। ॥११०-११७॥

स्वदेहं नीचगेहे ते जह्युर्वा जाह्नवीतटे ।
विप्रभेद्दा विदेहा वा मामेव प्राप्नुवन्ति ते ॥११८॥

वह चाहे नीचों के गृह में शरीर त्याग करें अथवा गङ्गा के तट पर शरीर त्याग करें, वह शरीर रहते भी मुझको प्राप्त है और शरीर त्याग करने पर भी मुझको ही प्राप्त होते हैं ॥११८॥

निर्विकल्पसमाधिस्थैयोगिराजै: सहास्ति में।
काचिद्विभिन्नता नैव सत्यमेतद्रवीमि वः ॥११९॥

निर्विकल्प समाधिप्राप्त योगिराजों में और मुझमें कोई भेद नहीं है इसको मैं तुमसे सत्य कहती हूँ ॥ ११९॥

संयमश्चैकवत्वं च शक्तिद्वयमलौकिकम् ।
पुरो यो वासुतं देवाः ! मया सम्यकतयाऽनघाः! ॥१२०॥

हे निष्पाप देवगण ! मैंने जो पहले संयम और एकतत्त्वरूपी अलौकिक दो शक्तियों का वर्णन तुमसे सम्यक्तया किया है। ॥१२०॥

जायते संयमस्तत्र धारणाभूमितो ध्रुवम् ।
ध्यानभूम्यास्तु भो देवाः ! एकतत्त्वं प्रजायते ॥१२१॥

हे देवगण ! उनमें संयम धारणाभूमि और एकतत्व ध्यानभूमि से निश्चय प्रकट होता है॥१२१॥

अयं हि धारणाध्यान-समाधनि क्रियात्मकम् ।
दृश्याश्रयात्मयुक्तं सनिर्जराः ! संयमो भवेत् ॥१२२॥

यदा त्वावत्मानमुद्दिश्य त्रयमेतत् प्रयुज्यते।
एकतत्त्वं तदोदेति ह्योपा वैदान्ति की श्रुतिः ॥१२३॥

धारणा ध्यान और समाधि इन तीनों की क्रियाएँ जब इस दृश्य के अवलम्बन से प्रयुक्त होती हैं तब उसको संयम कहते हैं और जब केवल आत्मा के लक्ष्य से प्रयुक्त होती है तब एकतत्त्व का उदय होता है। यही उपनिषद का रहस्य है॥१२२-१२३॥

प्रोद्धोधयति जीवेषु नानाशक्तीहि संयमः।
ऐशीनैवात्र सन्देहो नाऽलं मोचयितुं त्वसौ ॥१२४॥

अविद्यापाशसनंद्धांजीवांस्तान पाशबन्धनात् ।
एकतत्वन्तु शक्नोति भक्तान दृश्यमप्रज्ञतः ॥१२५ ॥

हठादाकृष्य तेभ्यो हि शिवत्वं दातुममदभुतम् ।
साधनं संयमोपेतं योगस्याभ्युदयप्रदम् ॥१२६॥

केवलं त्वेकतत्वस्य साहाय्यात् साध्यते तु यन् ।
साधनं तद्धि योगस्य निःश्रेयसकरं ध्रुवम् ॥१२७॥

संयम अनन्त ऐशी शक्तियों को जीवों में प्रकट करता है यह निःसन्देह है परन्तु अविद्या-पाशबद्ध जीवों को पाशमुक्त नहीं कर सकता है और एकतत्त्व मेरे भक्तों को दृश्य प्रपञ्च से हटाकर उनको अद्‌भुत शिवत्व प्रदान करने में समर्थ है। संयम से युक्त योगसाधन अभ्युदयकारी है और केवल एकतत्त्व की, सहायता से साधित योग ही निःश्रेयसकारी हो सकता है ॥१२४-१२७॥

एतदेवास्ति योगस्य रहस्यं श्रुतिमूलकम्।
योगस्य साधकानां हि तत्त्वज्ञानप्रकाशकम् ॥१२८॥

यही श्रुति मूलक और साधकों के लिये योग के तत्त्वों को प्रकाश करने वाला योग का रहस्य है॥ १२८॥

मद्भक्तिरस्ति योगस्य प्राणभूता यतस्त्वतः।
वैयर्थ्यापत्तिमादत्ते नूनं मनक्तिमन्तरा ॥१२९॥

शिलाबीजोतिवद्देवाः ! निखिलं योगसाधनम् ।
क्रियासिद्धांशबोधा हि येषां योगस्य केवलम् ॥१३०॥

सन्ति वाचनिका एव न यथार्थतया सुराः!।
तत्त्वज्ञानविहीनास्तेऽनुरागवर्जीतां मयि ॥१३१॥

ज्ञेया अभिनये नूनं शैलूपा इव सन्ततम् ।
गौणीपरेतिभेदाभ्यां भक्ति में द्विविधा मता ॥१३२॥

हे देवगण ! मेरी भक्ति योगसाधन की प्राणभूता है, क्योंकि बिना मेरी भक्ति के सम्पूर्ण योगसाधन शिला में बीजवपन की भांति अवश्य ही व्यर्थ होता है । मुझमें अनुरागविहीन, तत्वज्ञानहीन और यथार्थतः नहीं केवल वाचनिक रूप से योग के क्रिया सिद्धांशो को जाननेवाले नाटक में वेशधारी नट के समान है ऐसा सदा समझो। मेरी भक्ति के दो भेद हैं-गौणी और परा। ॥ १२९-१३२॥

विधिभिः साध्यते गौणी वासल्या च प्रवर्द्धते ।
महयादृष्टिपातेन पराभक्तिस्तु साधके ॥१३३॥

स्वत उत्पद्यते देवाः ! आत्मज्ञानप्रकाशिनी ।
भावविवर्द्धते सा हि परमानन्ददायिनी ॥१३४॥

गौणी भक्ति विधिसाध्यमाना है तथा आसक्ति से चर्चित होती है और पराभक्ति मेरी कृपा से ही साधक में स्वत: उत्पन्न होती है। हे देवगण ! वह आत्म ज्ञान प्रकाशिनी और परमानन्द दायिनी है और भाव से वर्द्धित होती है ॥१३३-१३४॥

योगिन्युदेत्त्यसौ गौणी भक्तिः संयमतत्परे।
क्षिप्रं तथा परोदेति ह्योकतत्त्वपरायणे ॥१३५॥

संयमपरायण योगी में गौणी भक्ति और एकतत्व परायण योगी में पराभक्ति का शीघ्र उदय हुआ करता है ॥१३५॥

एतद्भक्तिरहस्यं वो वर्णितं सम्मुखे सुराः।

ज्ञाने परिसमाप्यन्ते साधनान्यखिलानि मे ॥१३६॥

हे देवगण ! आप के सामने मैंने यह भक्तिका रहस्य वर्णन किया है। ज्ञान में सब साधनों की परिसमाप्ति होती है ॥१३६॥

अतएव च भो देवाः ! कर्मवीरशिरोमणिम् ।
कर्त्तव्यनिष्ठमूर्द्धन्यं निष्कामवततत्परम् ॥१३७॥

नृसिंह तं महात्मानं ज्ञानिभक्तं स्वतोऽमराः !।
पूर्ण भक्तिरसैस्तूर्णं पीयूषं पाययाम्यहम् ॥१३८॥

इसी कारण हे देवगण ! निष्कामव्रत परायण कर्त्तव्यनिष्ठो में श्रेष्ठ उस नृसिंह कर्मवीरों में श्रेष्ठ ज्ञानि भक्त महात्मा को मैं स्वत: ही भक्तिरस पूर्ण अमृत का शीघ्र पान कराती हूँ ॥ १३७-१३८॥

तत्त्वज्ञानेन मद्भक्तो मत्स्वरूपं यथार्थतः।
ज्ञात्वा सम्यक ततो देवाः ! अधिगच्छति मामहो ॥१३९॥

मेरा भक्त तत्त्वज्ञान द्वारा मेरे यथार्थ स्वरुप को अच्छी तरह जानकर तब मुझको प्राप्त होता है ॥१३९॥

अस्म्यहं कर्मयोगस्य मद्भक्तिज्ञानयोगयोः।
प्रतिष्ठास्थानमेवैकं सत्यमेतन्न संशयः ॥१४०॥

कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग इन तीनों का प्रतिष्ठा स्थान मैं ही हूँ यह सत्य है इसमें सन्देह नहीं ॥ १४०॥

वेदकाण्डत्रयस्यैतद्रहस्यमुपवर्णितम् ।
ब्रह्मानन्दं निनं नूनमविद्यारूपतः सुराः ! ॥१४१॥

विस्तार्य विषयानन्दे तत्र जीवान्निरन्तरम् ।
आवघ्नाम्यहमेवालं तान् विद्यारूपतः पुनः ॥१४२॥

अज्ञानमूलकद्वैत भावोत्पन्नं हि बन्धनम् ।
विच्छिद्योन्मजये चापि ब्रह्मानन्दे निमज्जये ॥१४३॥

यही वेद काण्डत्रय का रहस्य वर्णन किया गया है। हे देव गण ! मैं ही अविद्यारूप से अपने ब्रह्मानन्द को विषयानन्द में विस्तार करके उसमें जीवों को निरन्तर आबद्ध करती हूँ और पुनः मैं ही विद्यारूप से अज्ञानमूलक द्वैतभाव से उत्पन्न बन्धन को काटकर जीवों को ब्रह्मानन्द में उन्मजन निमजन कराती हूँ ॥१४१-१४३॥

केवलं ज्ञानयोगेन पाशज्ञानमूलकम् ।
जीवः शिवस्त्वमासाद्योच्छेत्तुं पारयते ध्रुवम् ॥१४४॥

केवल ज्ञानयोगके द्वारा ही जीव शिवत्व प्राप्त करके अपने अज्ञान मूलक बन्धन को काटने में समर्थ होता है ॥१४४॥

विद्यारूपन्तु विभ्राणाऽऽनेतुं च मयते सुखम् ।
स्वाभिमुख्यमहं देवाः ! अधिकारप्रभेदतः ॥१४५॥

विभिन्नमार्गतो नूनं स्वभक्तात् ज्ञानयोगिनः।

अधिकारद्वयं देवाः ! वर्ण्यते वोऽन्तिकेऽधुना ॥ १४६॥

ज्ञानयोगस्य तद्यूयं शृणुयात समाहिताः ।
पूर्व पश्यन्ति मच्छक्तिं तत्त्वज्ञा ज्ञानयोगिनः ॥१४७॥

त्रिविधेषु च रूपेषु तथा सप्तविधेषु च।
परश्च तेषु ते देवाः सज्जन्ते नैव कहिर्चित्त ॥ १४८॥

मैं ही विद्यारूप धारण करके अधिकार भेद के अनुसार ज्ञानिभक्तों को विभिन्न मार्ग द्वारा सुखपूर्वक अपनी ओर आकृष्ट करने का यत्न करती हूँ। हे देव गण ! ज्ञानयोग के दो अधिकारों का वर्णन तुम्हारे सन्मुख करती हूँ उनको सावधान होकर सुनो। प्रथम तत्त्वज्ञानी योगी मेरी शक्ति को त्रिविध और सप्तविध रूप में देखते हैं परन्तु हे देवगण ! उन रूपों में वे कभी फंसते नहीं हैं ॥ १४५-१४८॥

मां त्रिभावानुसारेणाऽनुभवन्तो हि तेऽसकृत् ।
क्षिप्रमभ्युदयं देवाः ! अधिकुर्वन्ति सर्वथा ॥१४९॥

और मुझे त्रिभाव के अनुसार बारम्बार अनुभव करते हुए सर्वथा अद्भुदय के अधिकारी शीघ्र, होते हैं ॥१४९॥

लोकसप्तमपर्यन्तं तेषामूर्द्धवगतिर्भवेत् ।
पुनरावृत्तिसन्देह सत्त्वेऽपि विबुधर्षभाः ! ॥१५०॥

नैवास्ति पतनाद्वितिस्तेषां भाग्यवतां ततः ।
श्रेष्ठाधिकारसम्पन्नास्ततोऽन्ये ज्ञानयोगिनः ॥१५१॥

सच्चिदानन्दरूपं मेऽखण्डं विभु च निर्मलम् ।
निर्विकारं सदा पूर्णमद्वितीयस्वरूपकम् ॥१५२॥

दृष्ट्या साक्षाल्लयं प्राप्ता कैवल्यमाप्नुवन्ति ह।
एतद्दशाद्वयं नूनं वदन्ति हि यथाक्रमम् ॥१५३ ॥

उच्चैः परोक्षापरोक्षाऽनुभूतीति विपश्चितः।
श्रौतं त्रैकाण्डिकं योग-रहस्यं ह्येतदीरितम् ॥१५४॥

उन ज्ञानयोगियों की ऊर्ध्व गति सप्तमलोक पर्यन्त हो सकती है। हे देवश्रेष्ठों ! वहां से पुनरावृत्ति की आशंका होने पर भी उन भाग्यवानों का पतन भय असम्भव है। श्रेष्ठ अधिकार के ज्ञानयोगी मेरे सच्चिदानन्दमय, अखण्ड, निर्मल, विभु, सदापूर्ण, निर्विकार और अद्वितीय स्वरुप का दर्शन करके उसी में साक्षात् रूप से लय होकर निःश्रेयस को प्राप्त होते हैं। विद्वद्गण इन्ही दो दशाओं को यथाक्रम परोक्षानुभूति और अपरोक्षानुभूति भी उच्च स्वर से कहते है। मैंने यह वैदिक काण्डत्रययोगकारहस्य वर्णन किया है। ॥ १५०-१५४॥

इति श्रीशक्तिगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
महादेवीदेवसम्वादे वेदकाण्डत्रययोगविज्ञानवर्णनं नाम
तृतीयोऽध्यायः।

इस प्रकार श्री शक्तिगीतोपनिषद्के ब्रह्मविद्यासम्बन्धी योगशास्त्रका महादेवीदेवसम्वादात्मक वेदकाण्डत्रययोगविज्ञान वर्णन नामक तृतीय अध्याय समाप्त हुआ।

॥ श्रीजगन्मात्रे नमः॥

# ॥ श्री शक्ति गीता ॥

## अथ चतुर्थोऽध्याय : चतुर्थ अध्याय

### मन्त्रशक्तिविज्ञानयोगवर्णनम्

देवा ऊचुः॥१॥

देवतागण वोले ॥१॥

वेदमातर्जगन्मातर्देवि ! प्रणवरूपिणि ।
श्रौतत्रैकाण्डिकज्ञानमपूर्व तत्समन्वयम् ॥२॥

क्रियासिद्धांशयोगस्य स्वरूपञ्च महादभुतम् ।
विदित्वा त्वन्मुखाम्भोजाज्जाता निःसंशया वयम् ॥३॥

हे जगन्मातः ! हे वेदजननी । हे प्रणवरूपिणी ! हे देवि ! वेद के तीनों काण्डो का विज्ञान, वेद-काण्ड त्रय का अपूर्व समन्वय और उनके क्रिया सिद्धांश का योगसम्बन्धीय परम अद्भुत स्वरुप आपके मुख कमल से जानकर हमलोग निःसन्देह हो गये हैं ॥२-३॥

श्रुतवन्तो वयं मातर्वेदा मन्त्रस्वरूपिणः।
सन्ति तत्र भवत्याश्च निहिताः शक्तयो ध्रुवम् ॥४॥

मन्त्रसिद्धयाऽखिलं कार्य्यमतः सर्वत्र सिध्यति ।
विश्वस्मिन्नास्ति तत्काय्य सिध्येयन्नैव मन्त्रतः ॥५॥

हे मातः ! हमने सुना है कि श्रुत्तियां मन्त्ररूप हैं और हमने यह भी सुना है कि मन्त्र में आपकी शक्ति निहित रहने के कारण मन्त्रसिद्धि से सर्वत्र सभी काम सिद्ध होते हैं। ऐसे कोई कार्य जगत् में नहीं है कि जो मन्त्र से सिद्ध नहीं हो सकते ॥ ४-५ ॥

मन्त्रा अभ्युदयं सर्वे पारलौकिकमैहिकम् ।
अपि निश्रेयिसं दातुमीशते नितरामिति ॥६॥

मन्त्र इहलौकिक अभ्युदय, पारलौकिक अभ्युदय और निःश्रेयस सब कुछ भी प्रदान कर सके हैं ॥६॥

अम्बातो मन्त्रविज्ञान-रहस्यं हितमुत्तमम् ।
वर्णयित्वा महादेवि ! कृतकृत्यान् कुरुप्व नः ॥७॥

अतः हे माँ ! हे महादेवि ! मन्त्र विज्ञान का हितकारक उत्तम रहस्य वर्णन करके हमको कृतकृत्य कीजिये ॥७॥

महादेव्युवाच ॥८॥

महादेवी बोली ॥ ८॥

अहमेवास्म्यहो देवाः ! मन्त्रशक्तिर्न संशयः।
मम शक्तिर्यतो विश्वमश्नुते सचराचरम् ॥९॥

हे देवतागण ! मन्त्रशक्ति मैं ही हूँ यह निश्चय है क्योंकि मेरी शक्ति चराचर विश्व में व्याप्त है ॥९॥

अस्म्यहं कारणब्रह्म कार्यब्रह्मास्मि चाप्यहम् ।
अहमेवेश्वरी भूत्वा द्वयोः सम्बन्धमादधे ॥१०॥

मैं ही कारणब्रह्मा हूँ और कार्यब्रह्म भी मैं ही हूँ और मैं ही ईश्वररूपिणी होकर दोनों का सम्बन्ध स्थापित करती हूँ ॥१०॥

निर्गुणस्य स्वरूपस्य प्रणवो वाचकोऽस्ति मे ।
महावाक्यसमूहाश्च सन्ति तस्यैव वाचकाः ॥११॥

प्रणव और महावाक्य समूह मेरे निर्गुण स्वरूप के वाचक हैं ॥१९॥

बीजमन्त्रास्तु ये विज्ञाः ! शाखापल्लवितास्तथा ।
मन्त्रा नानाविधास्सन्ति निगमागमगोचराः ॥१२॥

सगुणस्य स्वरूपस्य ते सर्वे वाचका मम।
नात्र सन्देहलेशोऽपि विद्यते विबुधर्षभाः !॥१३॥

हे विज्ञो! हे देवश्रेष्ठो बीजमन्त्र तथा शाखापल्लवित नाना प्रकार के वैदिक अन्य शास्त्रीय मन्त्रसमूह मेरे सगुणस्वरूप के वाचक है; इसमें कुछ भी सन्देह का लेश नहीं है। ॥१२-१३॥

नास्ति भेदो यतो देवाः ! वाच्यवाचकयोरतः ।
सर्वेषां खलु मन्त्राणां नास्ति भेदो मया मह ॥१४॥

अस्त्येका मे क्रियाशक्तिर्ज्ञानशक्तिस्तथाऽपरा।
आभ्यां द्विधा विभक्तास्ति मच्छक्तिवै प्रधानतः ॥ १५ ॥

हे देवगण ! वाच्य और वाचक में भेद नहीं होता है इसलिये मुझ मे और इन सभी मन्त्रों में निश्चय ही भेद नहीं है। मेरी शक्ति प्रधानतः दो भागों में विभक्त है, एक ज्ञानशक्ति और दूसरी क्रियाशक्ति है ॥१४-१५॥

मत्कारणस्वरूपे हि नियमेवावतिष्ठते।
नित्या शुद्धा सदा पूर्णा ज्ञानशक्तिर्न संशयः ॥१६॥

ज्ञान शक्ति मेरे कारणस्वरूप में नित्य शुद्ध और सदापूर्ण रूप से सर्वदैव निःसन्देह अवस्थित है ॥१६॥

द्वितीया या क्रियाशक्तिर्विद्यते मे सुरर्षभाः ।
सैव प्रपञ्चरुपैतत्कार्यब्रह्मजनन्यहो ॥१७॥

मेरी क्रियाशक्ति ही, जो दूसरी है, हे देवगण ! इस प्रपञ्चमय कार्यब्रह्म की जननी अर्थात् उत्पन्न करने वाली है ॥१७॥

ज्ञानशक्तेरतो ह्यस्ति प्रणवो वीजमद्भुतम्।
बीजमन्त्रास्तथा नाना क्रियाशक्तेन संशयः ॥१८॥

अतः ज्ञानशक्तिका अद्भुत बीज प्रणव है और नानां बीजमन्त्र क्रियाशक्ति के बीज है, इसमें सन्देह नहीं ॥१८॥

कार्ये यत्र किमप्यास्तेऽवश्यं स्यात्र कम्पनम् ।
कम्पनञ्चापि यत्रास्ति तत्र शब्दो भवेध्रुवम् ॥१९॥

ज्ञानं तथैव यत्रास्ते भावस्तत्रास्त्यसंशयम् ।
यत्र भावो भवेन्नूनं तत्र रूपं न संशयः ॥२०॥

जहां कोई कार्य है, वहां कम्पन अवश्य है और जहां कम्पन है वहां शब्द अवश्य है, उसी प्रकार जहां ज्ञान है वहां निःसन्देह भाव है और जहां भाव है वहां रूप भी अवश्य है ॥१९-२०॥

अस्त्वेतत्पुनराचक्षे श्रूयतां सुसमाहितैः।
यथा स्यान्मन्त्रविज्ञानं सम्यगवो बुद्धिगोचरम् ॥२१॥

अस्तु, मैं इसको पुनः कहती हूँ सावधान होकर सुनो जिससे मन्त्र का विज्ञान आपलोगो को भलीभांति समझ में आ जाए ॥२१॥

भावैराध्यात्मिकैयुक्तै रूपैर्नानाविधैरहम् ।
विभ्राणा विग्रहान्नाना शब्दैर्नानाविधैस्तथा ॥२२॥

अधिदैवत्वसम्प्राप्तैनानामन्त्रस्वरूपिणीं।
ददाम्यभ्युदयं शश्वत् तथा निःश्रेयसं ध्रुवम् ॥२३॥

मैं आध्यात्मिक-भावयुक्त अनेक रूपों से अनेकों विग्रहों को धारण करती हुई और अधिदैव सम्बन्धयुक्त अनेक शब्दों से अनेक मन्त्र

रूपिणी होकर अद्भुदय और निःश्रेयस सर्वदा अवश्य प्रदान किया करती हूँ ॥२२-२३॥

प्रणवो निर्गुणानाम्बै मन्त्राणामादिमोऽस्त्यतः।
आस्ते प्रणवमाहात्म्यं सर्वमूर्द्धन्यताङ्गतम् ॥२४॥

अतोहि सच्चिदानन्द-स्वरूपोद्भाव को मम ।
प्रणवो मन्त्रराजोऽस्ति मन्त्राणां सेतुरेव च ॥२५॥

प्रणव निर्माण मन्त्रों का आदि है, इसलिये प्रणव का माहात्म्य सर्वोपरि है और इसी कारण सच्चिदानंद स्वरूप का परियाचक प्रणव, सभी मन्त्रों का राजा तथा सभी मन्त्र शक्तियों का सेतु है ॥२४-२५॥

तथा नानाविधोपास्तेर्वीजमन्त्रा अनेकधा ।
स्वोपासनाधिकारेषु सर्वश्रेष्ठा न संशयः ॥२६॥

उसी प्रकार अनेक उपासनाओं के अनेक बीज मन्त्र उन उपासनाओं के अधिकार में सर्वश्रेष्ठ हैं यह निःसन्देह है ॥२६॥

अतोऽधिदेवशब्दानां वैभवद्योतका मम ।
सगुणेष्वपि मन्त्रेषु वीजमन्त्रा खलूतमाः ॥२७॥

इस कारण अधिदैव शब्दों के सामर्थ्य परिचायक बीजमन्त्र सगुणमन्त्रो में अति उत्तम हैं ॥२७॥

उत्पधन्ते यथा बीजदवृक्षाः पञ्चाङ्गसंयुताः।

सम्बन्धो बीजमन्त्राणा मन्त्रैज्ञेयस्तथाऽखिलैः ॥२८॥

जैसे बीज से पंचांग युक्त वृक्ष उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार अन्य सब मन्त्रों के साथ बीजमन्त्रों का सम्बन्ध जानना उचित है ॥२८॥

ब्रह्ममन्त्रेषु सर्वेषु गायत्री प्रणवान्विता।
पूर्णा पञ्चभिरस्त्यङ्गैरतोऽसौ मुक्तिदायिनी ॥२९॥

सम्पूर्ण ब्रह्ममन्त्रों में प्रणवयुक्त गायत्रीमन्त्र पंचांगों से पूर्ण है इसी कारण यह मुक्तिदायिनी है ॥२९॥

अतश्च ब्रह्मतेजांसि गायत्रयाराधनं विना ।
भुवेयुर्ब्राह्मणानां न रक्षितानि कदाचन ॥३०॥

इस लिये गायत्रीकी आराधना के बिना ब्राह्मणों का ब्रह्मतेज सुरक्षित कदापि नहीं रह सकता ॥३०॥

निःश्रेयसाप्तये नूनं गायत्री प्रणवान्विता ।
शुभदा च सुदक्षाऽस्ति श्रुतिरेषा सनातनी ॥३१॥

नि:श्रेयस प्राप्ति के लिये प्रणवयुक्त गायत्रीमन्त्र परमदक्ष और मंगल कर हैं यही सनातन श्रुति है ॥३१॥

अनेके सगुणा मन्त्रा नानाबीजसमन्विताः ।
नानासिद्धिमदास्सन्ति नैकधाभ्युदयाप्तये ॥३२॥

नानाप्रकार की अद्भुदयप्राप्ति के लिये अनेक बीजयुक्त अनेक सगुण मन्त्र अनेक प्रकार की सिद्धि देनेवाले हैं॥३२॥

मुख्यतो बीजमन्त्राणां भेदा अष्टौ प्रकीर्तिताः ।
सामान्यतस्तु तभेदा अनेके सन्त्यनेकथा ॥३३॥

वैसे तो बीज मन्त्रों के अनेक प्रकार के अनेक भेद हैं परन्तु प्रधानतः बीजमन्त्र के आठ भेद हैं ॥३३॥

सत्यं वो वचम्यहं देवाः ! प्रणवस्य गतिः खलु ।
उच्चैः सप्तोर्द्धवलोकेभ्यस्तथास्ते पञ्चकोषतः ॥३४॥

हे देवंगण ! मैं तुमसे सत्य कहती हूँ कि प्रणव की गति पंचकोष और सप्त उर्द्धव लोक से भी दूर तक व्याप्त है ॥३४॥

गतिश्च बीजमन्त्राणां षष्ठलोकावधि ध्रुवम् ।
किन्तु ते प्रणवोऐनाः कैवल्याभ्युदयप्रदाः ॥३५॥

परन्तु बीज मन्त्रों की गति षष्ठलोक पर्यन्त है; तथापि प्रणवयुक्त बीजमन्त्र अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों के देने वाले हैं ॥३५॥

सामान्यतो हि मन्त्राणां संज्ञे वे समुदाहृते ।
एका च शस्त्ररूपाऽस्ति द्वितीयाऽवस्वरूपिणी ॥३६॥

मन्त्रों की साधारणतः दो संज्ञा होती हैं। एक शस्त्र और दूसरा अस्त्र ॥३६॥

एतद्भेदद्वयं ज्ञातं प्रयोगस्य प्रभेदतः।
देवसान्निध्यसम्माप्तिर्नूनमेकेन जायते ॥ ३७ ॥

आधिदैविककार्य्यस्य साधनेऽन्येन सत्वरम् ।
सौकर्यमुपजायेत नियमोऽयं सनातनः ॥ ३८ ॥

प्रयोग के भेद से ही ये दो भेद उत्पन्न हुए हैं । एक के द्वारा देवताओं की सान्निध्यप्राप्ति और दूसरेके द्वारा अधिदैव कार्य कराने में शीघ्र सुगमता होती है यह नियम सनातन है॥३७-३८॥

हेतु त्वं वहते नूनं भेदयोरनयोर्द्वयोः।
साकाम्यश्चापि नैष्काम्यं साधकानां सुरोत्तमाः । ॥३९॥

हे देवश्रेष्ठो! इन दोनों भेदों में भी साधकों की सकामता तथा निष्कामता ही कारण है ॥३९॥

मन्त्रशक्त्यैव भो देवाः ! पितरस्समुपस्थिताः।
अन्नैः श्राद्धे स्वधाकारे दत्तैस्तृप्यन्ति मानवैः ॥४०॥

हे देवगण ! मन्त्र के ही बलसे पितृगण समुपस्थित होकर स्वधाकार श्राद्ध मे मनुष्यों के द्वारा दिये अन्नों से तृप्ति प्राप्त करते हैं ॥४०॥

युयंच मन्त्रशक्त्यैव प्रोद्युङ्क्ते सततं सुराः ।
यज्ञसम्बद्धिताः सन्तो विधातुं विश्वमङ्गलम् ॥४१॥

हे देवगण ! मन्त्र की ही शक्तिद्वारा तुम लोग यज्ञ से संवर्धित होकर जगत के कल्याण में सदा तत्पर होते हो ॥४१॥

ऋषयो ब्रह्मयज्ञैश्च भवन्तो देवयज्ञतः।
सम्बद्धिताः परं श्रेयो लभन्ते प्रापयन्ति च ॥४२॥

मन्त्र की शक्ति द्वारा ब्रह्मयज्ञों से ऋषिगण और देवयज्ञों से आपलोग संवर्धित होकर परस्पर परमश्रेय लाभ करते हो और कराते हो ॥४२॥

प्रयुज्यन्ते यदा मन्त्राः सहैव कर्मणा तदा।
ददत्यूवंगात नूनं कर्मिभ्यो नान संशयः ॥४३॥

यदा मन्त्राः प्रयुज्यन्ते मद्भक्तिसहितास्त्वहो ।
नयन्ति मम सान्निध्यं तदा भक्तान हि मत्प्रियान ॥४४॥

मन्त्र जब कर्म के साथ प्रयुक्त होते हैं तब कर्मियों को अवश्य उद्धर्वगति प्रदान करते हैं इसमें सन्देह नहीं और जब मन्त्र मेरी भक्ति के साथ प्रयुक्त होते हैं तब मेरे प्रिय भक्तों को मेरा सान्निध्य प्राप्त कराते हैं। ॥४३-४४॥

यदा मन्त्रास्तु चैतन्यमाप्नुवन्तो दिवौकसः !।
सहोपास्यस्वरूपैहि यान्ति तादात्म्यमद्भुतम् ॥४५॥

तदेव मन्त्ररूपाभ्यां सार्द्धे चित्तं विलीयते।
मन्त्रा एव प्रयच्छन्ति तदा निःश्रेयसं पदम् ॥४६॥

और है देवगण ! जब मन्त्र चैतन्य को प्राप्त होकर उपास्य रूप के साथ एकाकार भाव में परिणत हो जाते हैं तो उस समय मन्त्र और रूप के साथ मन का विलय आपसे स्वयं हो जाता है तब मन्त्र ही निःश्रेयस पद प्रदान करते हैं। ॥४५-४६॥

सर्वे ते ब्रह्ममन्त्रौघाः प्रत्यक्ष मुक्तिदायकाः ।
मन्त्रार्थानां यतो मन्त्रैः साई साक्षात्तदात्मता ॥४७॥

साहाय्याब्रह्ममन्त्राणां जीवान्तःकरणं ध्रुवम् ।
ब्रह्मसायुज्यमाप्नोति स्वरूप प्राप्य निर्मलम ॥४८॥

ब्रह्ममन्त्र समूह प्रत्यक्ष मुक्तिप्रद है क्योंकि मन्त्र से मन्त्रार्थ की साक्षात् तादाम्यता है। ब्रह्ममन्त्र की सहायता से जीव का अन्तःकरण निर्मल स्वस्वरूप को प्राप्त करके ब्रह्मसायुज्य को प्राप्त करता है ॥४७-४८॥

ब्रह्ममन्त्रेषु मूर्द्धन्यो मन्त्रोऽस्यातत्सदात्मकः।
अतो मे ज्ञानिनो भक्ताः सर्वकर्मफलं मयि ॥४९॥

क्षमन्तेऽर्पयितुं सम्यक मन्त्रेणानेन निर्जराः ।
ममोपास्तिक्षणे नूनं सान्निव्यञ्चाप्तुमीशते ॥५०॥

सर्वत्र सर्वदा ज्ञान-दृष्ट्या च सर्वथा मयि ।
युजानाः स्थातुमात्मानं क्षमन्ते मत्परायणाः ॥५१॥

ब्रह्ममंत्रों में 'ॐ तत सत' मन्त्र सर्व शिरोमणि है इसी कारण हे देवगण ! इस मंत्र के द्वारा मेरे ज्ञानी भक्तगण सब कर्मफल मुझ में अच्छी

तरह अर्पण कर सकते हैं और उपासना के समय मेरा सान्निध्य प्राप्त कर सकते हैं। और ज्ञान दृष्टि से सब समय सब स्थानों में सर्वथा अपने को मुझ में ही युक्त करके रह सकते हैं ॥४९-५१॥

ओतत्सदात्मके ब्रह्म-मन्त्र मन्त्रशिरोमणौ ।
तिसृणां सचिदानन्द-कलानामस्ति पूर्णता ॥५२॥

इस ॐतत्सदात्मक मन्त्र शिरोमणि ब्रह्ममन्त्र में मेरी चित् कला, सत् कला और आनन्दकला तीनों की पूर्णता विद्यमान है ॥५२॥

माध्यात्माधिदैवाधिभूतत्रिरूपवाचकः ।
प्रशस्तो मन्त्रराजोऽयं सर्वकल्याणकारकः ॥५३॥

यह श्रेष्ठ मन्त्रराज मेरे अध्यात्म अधिदैव और अधिभूतरूप त्रय का वाचक है और सर्वकल्याणकारी है ॥५३॥

उपास्तिज्ञानकाख्यैत्रिकाण्डैर्विश्रुता श्रुतिः।
तत्र सर्वत्र साफल्यं पूर्ण दातुं स चार्हती ॥५४॥

कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड, वेद इन तीनों से विख्यात है, यह मंत्र इन तीनों काण्डो में पूर्ण सफलता देने योग्य है ॥५४॥

इदानी खलु साफल्यं ब्रह्मचक्रे यदाप्नुत ।
तत्फलं वित्त भो देवा ! मन्त्रसिद्ध केवलम् ॥५५॥

हे देवतागण ! ऐसा समझो की तुमने अभी ब्रह्मचक्र में जो सफलता प्राप्त की है वह केवल मंत्रसिद्धि के फल से ही की है ॥५५॥

किम्विधेष्वपि चक्रेषु पूर्णसाफल्यलब्धये।
मन्त्राणां सिद्धिरेवास्ति वलवत् कारणं यतः ॥५६॥

क्योंकि किसी प्रकार के भी चक्र मे पूर्ण सफलता प्राप्ति करने के लिये मन्त्रसिद्धि ही प्रबल कारण है ॥५६॥

कापि चक्रेऽथवा पीठे देवाविर्भावदर्शने।
मन्त्रसिद्धिवलादेव जायेते सुरसत्तमाः ! ॥५७॥

हे देवश्रेष्ठो ! किसी चक्र में  देवता का आविर्भाव तथा दर्शन अथवा किसी पीठ में देवता का आविर्भाव तथा दर्शन मन्त्रसिद्धि के बल से ही हुआ करता है ॥५७॥

प्राणैरुत्पद्यते पीठं भवेदयदेवतासनम् ।
प्राणैरेवेष्टचक्रेप्याकृप्यन्तेऽपीष्टदेवताः॥५८॥

प्राण के द्वारा पीठोत्पत्ति होकर वह देवता का आसन बनता है और प्राण के द्वारा ही अभिलक्षित चक्र में अभिलक्षित देवता का आकर्षण हुआ करता है ॥५८॥

सन्ति प्राणा मनोनिम्ना मन्त्राधीनं मनो ध्रुवम् ।
तस्मात्सिद्ध्यैव मन्त्राणां पीठे चक्रेऽथवा शुधौ ॥५९॥

बलाद्भक्तेद्रढिम्नो मे भक्तानाममलात्मनाम् ।
आविर्भवाम्यहं देवाः ! दैव्यो वा मद्रिभृतयः ॥६०॥

प्राण मन के अधीन है और अवश्य ही मन मन्त्र के अधीन है इसी कारण मन्त्रसिद्धि द्वारा ही मैं अथवा मेरी देवी विभूतियां पवित्र चक्र मे अथवा पीठ में शुद्ध अन्तःकरण भक्त की भक्ति की दृढ़ता के बल से अविर्भूत हुआ करती हैं ॥५९-६०॥

साधकानां तयोर्यावानधिकारो भवेदिह ।
प्रादुर्भवति मच्छक्तिस्तावत्येव न संशयः ॥६१॥

चक्र का अथवा पीठ का साधक जिस अधिकार का होता है उसी अधिकार की मेरी शक्ति उसमें प्रकट हुआ करती है इसमें सन्देह नहीं है ॥६१॥

किन्तु तत्रास्ति भो देवाः ! मन्त्रो मे मूलकारणम् ।
अमन्त्रकं यतश्चक स्यादज्ञानप्रवर्तकम् ॥६२॥

अविद्यामन्दिरं तद्वत्पीठः प्रेतालयों भवेत् ।
माहाय्यादेव मन्त्राणां पीठे सिद्धिर्भवेदतः ॥६३॥

परन्तु हे देवगण ! इसमें सफलता का मूलकारण मन्त्र ही है क्योंकि अमंत्रक चक्र अज्ञान प्रवर्तक और अविद्या का मंदिर है और अमंत्रक पीठ प्रेत का घर बन जाता है। इस कारण मंत्र की सहायता से ही पीठ की सफलता होती है। ॥६२-६३॥

आविर्भावस्य मच्छक्तेश्चक्रेऽदोषस्य कारणम् ।
स्यान्मन्त्रस्तद्बलेनापि जड़े चैतन्यमुद्भवेत् ॥६४॥

चक्र में मेरी शक्ति के दोषरहित आविर्भाव का कारण मन्त्र है। मंत्र के बल से जड़ में भी चेतनशक्ति उत्पन्न हो सकती है ॥६४॥

मूर्तियन्त्रादिदेशेषु दिव्येषु मन्त्रसाधनात् ।
आविर्भावो हि पीठस्य यथा देवासनस्य ह ॥६५॥

अनात्मन्यपि मन्त्राणां बलादात्मा प्रकाशते।
साधनाच्छवदेहेषु चैतन्यं जायते यथा ॥६६॥

जैसे मूर्ति और यन्त्रादि दिव्य देश में मन्त्रसाधना से देवासन रूपी पीठ का आविर्भाव होता है। मंत्र के बल से अनात्मा में भी आत्मा का विकास हो जाता है, जैसे साधनक द्वारा शव देह में चैतन्य का अविर्भाव होता है॥६५-६६॥

दैवी शक्तिर्जडेपीह मन्त्रशक्ति समुच्चयात् ।
उत्पद्यते यथा देव्याः प्रयोगोऽस्त्रावले रणे ॥३७॥

मन्त्र के बलसमूह से जड़ में भी दैवीशक्ति उत्पन्न हो जाती है, जैसे युद्ध में देवी युद्धास्त्रों का प्रयोग होता है ॥६७ ॥

मन्त्राणां बलतो नूनं भवेत्कर्मविषर्ययः।
प्रयोगो मोहनादीनां षण्णां हि कर्मणां यथा ॥३८॥

मन्त्र के बल से कर्मों का भी विपर्याय हो सकता है, जैसे मोहन आदि 'षटकर्मों का प्रयोगा होता है ॥६७ ॥

विचित्रं मन्त्रमाहात्म्यं किन्तावर्णितं भवेत् ।
निरीक्ष्यते भवद्भिहि यदा मन्त्रबलाननु ॥६९॥

आकृप्यध्वेऽध्वरे यूयं विश्वस्मिन याज्ञिकवजैः।
यज्ञेषूपस्थितास्सन्तो गृह्णन्तो भागमात्मना ॥७०॥

मन्त्रैर्दातुश्च वाध्यचे नरेभ्यः फलमीप्सितम् ।
मन्त्राणामस्ति माहात्म्यमवाङ्मनसगोचरम् ॥७१॥

मन्त्र की विचित्र महिमा कहां तक कही जाए, जब आप ही देखते हो कि इस संसार में मंत्र के बल से ही आपलोग याज्ञिक समूह द्वारा आकृष्ट किये जाते हो और मंत्र के बल से ही आपलोग यज्ञ में उपस्थित होकर स्वयं यज्ञ भाग लेते हुए मनुष्यों को उनके इच्छा किये हुए फल देने में बाध्य होते हो इसलिये मन्त्रों की महिमा मन और वाणी से अतीत है ॥६९-७२॥

मन्त्रहीनोऽस्ति यो यज्ञस्तामसः स उदाहृतः ।
फलं नोत्पद्यते तस्मानीरसात कातरोरिव ॥७२॥

मन्त्रहीन यज्ञ तामसिक कहलाता है जो नीरस वृक्ष के समान होने से फल उत्पन्न करने में असमर्थ है ॥७२॥

योगोऽगर्भोऽस्ति निर्मन्त्रः सगर्भस्तु समन्त्रकः ।
योगोऽगों न शक्नोति मुक्ति दातुं कदाचन ॥७३॥

मन्त्रहीन योग अगर्भयोग कहलाता है और समन्त्रक योग सगर्भ कहलाता है। अगर्भयोग मुक्ति प्रदान करने में कभी समर्थ नहीं है। ॥७३॥

साङ्गानङ्गप्रभेदाभ्यां द्विविधो मन्त्र ईरितः।
प्रणवों बीजमन्त्राश्च निरङ्गास्तत्र कीर्जिताः ॥७४॥

तेभ्यश्चान्येऽखिला मन्त्राः साङ्गा हि ममुदाहृताः।
निरङ्गा ध्वनिमुख्याः स्युः साना भावप्रधानकाः ॥७५॥

मन्त्र के दो भेद हैं, यथा-निरवयवमंत्र और सावयव मन्त्र । प्रणव और बीजमन्त्र निरवयव मन्त्र है और अन्यान्य सभी मंत्र सावयव मंत्र कहे गये हैं। निरवयव मंत्र ध्वनिप्रधान और सावयव मंत्र भाव प्रधान होते हैं। ॥७४-७५॥

निराश्चित्तमाकष्टै मन्त्रा राज्येऽन्तरत्यलम ।
बहिर्विश्वप्रपञ्चात्तु सागुना मन्त्रा मनो ध्रुवम् ॥ ७६॥

अन्तर्जगति विक्रष्टुं क्षमन्तेऽतिशयं सुराः ।
अतो द्रावेव मन्त्रौ स्तस्समानी शक्तिशालिनी ॥७७॥

हे देवतागण! निरवयव मंत्र अन्तः करण को अन्तर्राज्य में आकर्षण करने में अधिक समर्थ हैं और सावयव मंत्र बहिर्जगत से अन्तर्जगत

में मन को विकर्षण करने में अधिक समर्थ हैं इस कारण दोनों मन्त्र ही समान रूप से शक्तिशाली है ॥७६-७७॥

सांगा हि कर्मकाण्डे ते नानास्वरसमाश्रयात् ।
शक्तिर्ननाविधा नूनं लभन्ते त्रिदिवौकसः ! ॥७८॥

हे देवतागण कर्मकाण्ड में सावयव मन्त्र भी विभिन्न स्वरों के आश्रय से विभिन्न प्रकार की शक्ति को अवश्य ही प्राप्त होते हैं। ॥७८॥

यथा भवत्सु चत्वारो वर्णा आर्यगणेष्वपि।
तथैवास्ते च मन्त्रेषु देवाः ! वर्णचतुष्टयम् ॥७९॥

हे देवगणा! जिस प्रकार आप लोगों में और आर्यगण में भी चार वर्ण है उसी प्रकार मन्त्र भी चारजाति के होते हैं ॥७९॥

ब्राह्मणा वैदिका मन्त्रास्तान्त्रिकाः क्षत्रियाः स्मृताः।
मिश्रमन्त्रास्तथा वैश्याः शूद्रा उक्तास्तु लौकिकाः ॥८०॥

वैदिक मन्त्र ब्राह्मण, तान्त्रिक मन्त्र क्षत्रिय, मिश्रमंत्र वैश्य और लौकिक मन्त्र शूद्र कहलाते हैं ॥८०॥

कैवल्यं वैदिका मन्त्रास्तान्त्रिकाः पारलौकिकम् ।
ददत्यभ्युदयं श्रेष्ठं मिश्रमन्त्राश्च वाञ्छितम् ॥८१॥

लौकिका लौकिकी वायां मन्त्रा हि नाशयन्त्यलम् ।
प्रादुरास्ते यतः पूर्व प्रणवस्तदनन्तरम् ॥८२॥

सृष्टिः शब्दमयी सर्वा जायते विबुधर्षभाः ।
मन्त्रा एवासते सृष्टे तवोऽता लयस्य च ॥८३॥

प्रणवः सर्ववेदानामादिमो नात्र संशयः।
सृष्ट्यादौ तत्समुत्पत्तेस्तेपाच प्रभवोऽस्त्यसौ ॥८४॥

वैदिक मंत्र मुक्तिप्रद, तान्त्रिक मंत्र श्रेष्ट पारलौकिक अभ्युदय प्रद, मिश्रमंत्र कामना प्रद और लौकिक मंत्र लौकिक बाधाओ का भलीभांति नाश करते हैं । हे देवगण ! मंत्र ही जगत्-उत्पत्ति के कारण और मंत्र ही जगत् के विलय के कारण हैं क्योंकि प्रथम प्रणव प्रकट होता है तदनन्तर शब्दमयी समस्त सृष्टि प्रकट होती है और वेद का आदि प्रणव ही है और सृष्टि के आदि में उत्पन्न होने से यह वेदों की उत्पत्ति का स्थान भी है ॥८१-८४॥

देवाः ! वर्णात्मकस्यास्य प्रणवस्याश्रयेण वै ।
ओंकारमधिकृत्याशु योगी ध्वन्यात्मकं मम ॥८५॥

सत्यलोकावधि प्राप्तुं शक्नुयात् कोऽत्र संशयः ।
कर्मनिष्ठा महात्मानो योगनिष्ठास्तथामरा !॥८६॥

ओंकाराश्रयतो नूनं देवयानगति गताः।
यस्मान्न पुनरावृत्तिस्तं लोकं प्राप्तुमीशते ॥८७॥

हे देवगण ! वर्णात्मक प्रणव के आश्रय से ध्वान्यात्मक ओंकार के अधिकार को योगी प्राप्त करके शीघ्र सत्यलोक तक पहुंच सकता है

इसमें क्या सन्देह है और कर्मनिष्ठ तथा योगनिष्ट महापुरुष ओंकार के अवलम्बन से ही देवयान की गति को प्राप्त होकर जिससे पुनरावृत्ति नहीं होती उस लोक को प्राप्त करते हैं ॥८५-८७॥

भावातीतस्वरूपान्मे युगपत्सम्प्रकटे वै ।
त्रिभावात्मक ओंकारो भावश्च भावमप्यहो ॥८८॥

सृष्टि शब्दमयीं कृत्वा प्रपञ्चं सजतो ननु ।
सृष्टेराद्या क्रिया मेनो मन्त्राधीनास्ति सर्वथा ॥८९॥

मेरे भावातीत स्वरूप से भाव और विभावात्मक ओंकार एक साथ ही प्रकट होकर भाव और शब्दमयी सृष्टि उत्पन्न करके दृश्यप्रपञ्च प्रकट करते हैं, इस कारण सृष्टि की आदि क्रिया सर्वथा मंत्र के अधीन है ॥ ८८-८९॥

जीवानामैहिके नूनं तथैव पारलौकिके।
सर्वथाऽभ्युदये देवाः ! मन्त्रास्सन्ति सहायकाः ॥९०॥

हे देवगण ! जीवों के ऐहलौकिक और पारलौकिक सब प्रकार के अभ्युदय में मंत्र ही सहायक हैं ॥९०॥

इध्यमपञ्चपुंजेन्न सृष्टेरस्या लयक्षणे।
शब्दजाते तथा शब्दैनूनं हि प्रणवेऽखिलैः ॥ ९१॥

भावेऽद्वैते भावजातैर्नियतं परिणम्यते ।
न कर्तव्योऽत्र सन्देहो युष्माभिः खलु कञ्चन ॥९२॥

इस सृष्टि का विलय होते समय दृश्य प्रपञ्च समूह शब्दसमूह में और लय शब्द प्रणव में और सब भावराशि अद्वैतभाव में निश्चय ही परिणत होते हैं, आप लोग इसमें कुछ सन्देह न करें ॥९१-९२॥

आदावन्ते च मन्त्रा में विश्वसर्जनकर्मणः।
सन्त्यतश्चेतना मन्त्रा जई कर्मेति निश्चितम् ॥९३॥

इस कारण सृष्टि-उत्पादक कर्म का आदि और अन्त मंत्र ही है। यही कारण है कि कर्म जड़ और मंत्र चेतन हैं यह निश्चय है। ॥९३॥

इति श्रीशक्तिगीतामुपनिषत्सुं ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे महादेवीदेव संवादे मन्त्रशक्तिविज्ञानयोग वर्णनं नाम चतुर्थोऽध्यायः ।

इस प्रकार श्रीशक्तिगीतोपनिषद् के ब्रह्मविद्यासम्बन्धी योगशास्त्र में महादेवीदेवसंवादात्मक मंत्रशक्तिविज्ञानयोग नामक चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ।

॥ श्रीजगन्मात्रे नमः॥

# ॥ श्री शक्ति गीता ॥

## अथ पंचमोऽध्याय : पांचवां अध्याय

### कर्मविज्ञानयोगवर्णनम्

देवा ऊचुः ॥ १॥

देवतागण बोले ॥१॥

चिन्मयि ! ज्ञानजननि ! कर्मसाक्षिस्वरूपिणि ।
दयातस्ते महादेवि ! दयापूरितमानसे ! ॥२॥

गृढमाकर्ण्य मन्त्राणां रहस्यं परमादभुतम् ।
विस्मयानन्दसन्दोहे निमग्नाः साम्प्रतं वयम् ॥३॥

हे ज्ञानजननी! हे कर्म की साक्षिस्वरूपिणी! हे चिन्मयी ! हे दयापूरितमानसे ! हे महादेवि ! इस समय मन्त्र का गूढ अपूर्व रहस्य हम सुनकर चकित और आनन्दित हुए हैं।॥ २-३॥

व्याहृतात्वन्मुखाब्जेन मन्त्रविज्ञानयोगतः।
अज्ञासिष्म च नैवास्ति भेदो मन्त्रेण ते सह ॥४॥

और आप के मुखारविन्द से कहे हुए मन्त्रविज्ञान योग से यह हमारे अनुभव में आ गया है कि आप में और मन्त्र में कोई भी भेद नहीं है ॥४॥

यद्भवत्या पुरा प्रोक्तं मन्त्रविज्ञानवर्णने ।
उत्पत्तिविलयस्थानं मन्त्र एवास्ति कर्मणः ॥५॥

पहले मन्त्रविज्ञान वर्णन में आपने जो कहा कि मन्त्र ही कर्म का उत्पत्ति और विलय स्थान है ॥५॥

विज्ञानं कर्मणस्तस्य गहनायाश्च तद्गतेः।
रहस्यं श्रोतुमिच्छामो यथावज्जगदम्बिके ! ॥६॥

हे जगन्माता ! उस कर्म का विज्ञान और उस कर्म की गहन गति का यथार्थ रहस्य सुनने की हमारी बड़ी इच्छा है ॥६॥

जगदुत्पादकं कर्म कथमुत्पद्यते शिवे !।
तच्छक्तिम्बा विलाप्यतुं जीवा मुक्तिमलं कथम ॥ ७ ॥

जगद उत्पादक कर्म कैसे उत्पन्न होता है और हे शिवे ! कैसे उसकी शक्ति का नाश करके जीव मुक्त हो सकते हैं ॥ ७॥

साग्रहं ज्ञातुमिच्छामो वयमेतन्महेश्वरि !।
विज्ञाप्य कर्मविज्ञानं व्यासतोऽनुगृहाण नः ॥८॥

यह जानने की हमारी बड़ी इच्छा है अतः हे महेश्वरि ! कर्म का विस्तारित ज्ञान हमें बातकर कृतकृत्य कीजिये ॥८॥

महादेव्युवाच ॥९॥

महादेवी बोली ॥९॥

ममैवास्ति स्वरूपं हि कर्म पीयूपपायिनः ।
वेदा वदन्ति कास्ति ब्रह्मसारूप्यभागिति ॥१०॥

हे देवतागण ! कर्म मेरा ही स्वरूप है। कर्म ब्रह्मस्वरूप है ऐसा वेद कहते हैं ॥१०॥

सर्वद्वैतप्रपञ्चोऽयं कर्माधीनोऽस्त्यसंशयम।
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं दृश्यजातमथाखिलम् ॥११॥

समस्त द्वैतप्रपञ्च और आब्रह्मस्तम्ब पर्यंत समस्त दृश्यसमूह निःसन्देह कर्माधीन है॥११॥

ब्रह्माण्डान्तर्गतं सर्वे बहते कर्मनिघ्नताम् ।
अव्यक्ताया दशायाश्च देवाः ! व्यक्तदशोद्भवे ॥१२॥

कर्मैव कारणं वित्त कर्मायत्तमतोऽविलम् ।
अतः कर्माधिकारोऽस्ति सर्वमूर्द्धन्यताश्रितः ॥१३॥

ब्रह्माण्ड के अंतर्गत सभी वस्तु कर्म के अधीन हैं । हे देवगण ! अव्यक्त दशा से व्यक्त होने में कर्म ही कारण है, कर्म ही के अधीन सब कुछ है इसलिये कर्म का अधिकार सर्वोपरि है ॥१२-१३॥

अहं ममेतिवदभेदो यथा नास्ति दिवौकसः ।
मन्मच्छत्तयोस्तथा कर्मा-मच्छत्तयोर्नास्ति भिन्नता ॥१४॥

हे देवगण ! जैसे मुझमे और मेरी शक्ति में 'अहं ममेतिवत्' भेद नहीं है ; उसी प्रकार मेरी शक्ति और कर्म में भेद नहीं है।॥१४॥

देवाः ! उद्भावकं सत्त्व-तमसोः कर्म कथ्यते।
धर्मः सत्त्वंप्रधानत्वादधर्मस्तद्विपर्ययात् ॥१५॥

हे देवगण ! कर्म ही सत्त्व और तम का उद्भावक होने से सत्त्व प्रधानता से धर्म और तमः प्रधानता से अधर्म कहाता है ॥१५॥

गूढं रहस्यं धर्मस्याऽधर्मस्याप्येतदेव हि।
जैवैशसहजाख्यामिस्त्रिधा कर्म विभिद्यते ॥१६॥

धर्म और अधर्म का यही गूढ़ रहस्य है । कर्म साधारणतः 'जैव, ऐश और सहज रूप से तीन भेदों में विभक्त है ॥१६॥

आश्रित्य सहजं कर्म भुवनानि चतुर्दश।
जायन्ते च विराष्टिः जङ्गमस्थावरात्मिका ॥१७॥

चतुर्दश भुवन और उनमें स्थावर जंगमात्मक विराट् सृष्टि का प्रकट होना सहज कर्म के अधीन है ॥१७॥

देवासुराधिकारेण द्विविधेन समन्वितम् ।
सञ्जुष्टं नैकवैचित्र्यैर्भूतसङ्घश्चतुर्विधैः ॥१८॥

सहजाख्यञ्च कर्मैव ब्रह्माण्ड सृजते सुराः।
कर्मभूमर्त्यलोकं हि जैवं कर्म दिवौकसः ! ॥१९॥

विविधानधिकारांश्च मानवानां यथायथम् ।
स्वर्नरकादिकान् भोगलोकांश्च सजते पुनः ॥२०॥

सहज कर्म ही चतुर्विध भूतसङ्घ और देवासुर रूपी द्विविध अधिकारसहित अनन्त वैचित्र्यपूर्ण ब्रह्माण्ड की सृष्टि करता है। पुनः हे देवगण! जैव कर्म के द्वारा ही कर्मभूमि मनुष्यलोक, मनुष्यों के यथायोग्य विविध अधिकार और स्वर्ग नरकादि भोग लोक की सृष्टि हुआ करती है ॥१८-२० ॥

मनिघ्नं सहज कर्म जैवं जानीत जीवसात् ।
जीवाः सन्ति पराधीनाः सहजे कर्माणि स्वतः॥२१॥

जैवे स्वाधीनतां यान्ति जीवाः कर्मणि निर्जराः।
सन्त्यतो मानवाः सर्वे पुण्यपापाधिकारिणः ॥२२॥

सहज कर्म मेरे अधीन और जैवकर्म जीवों के अधीन हैं सो जानो। सहज-कर्म में जीव स्वतः पराधीन हैं और हे देवगण! जैव कर्म में

जीव स्वाधीन हैं इस कारण सब मनुष्य पाप पुण्य के भोग के अधिकारी होते हैं । ॥२१-२२॥

आभ्यां विचित्रमेवेदमैश कर्म किमप्यहो ।
साहाय्यमुभयोरेव कम्मैतत् कुरुते किल ॥२३॥

केवलं मम कर्मेतदवतारेयु जायते।
देवाः ! ममावताराणां भेदान्नैकानियोधत ॥२४॥

इन दोनों के अतिरिक्त ऐश कर्म कुछ विचित्र ही है। ऐश कर्म उभय सहायक है और वह कर्म केवल मेरे अवतारों में ही प्रकट होता है। हे देवगण ! मेरे अवतारों के अनेक भेद जानो ॥२३-२४॥

आध्यात्मिकाधिदैवाधिभूतशक्तियुतास्त्रयः ।
शक्तिद्वयेन सञ्जुष्टो युक्तः शक्तित्रयेण च ॥२५॥

एवं पञ्चविधा ज्ञेया अवतारास्तथैव च ।
अंशावेशावतारौ हि तथा पूर्णावतारकः ॥२६॥

एवं बहुविधास्सन्ति ह्यवतारा दिवौकसः।
एते सर्वे प्राप्नुवन्ति निघ्नतामैशकर्मणः ॥२७॥

मेरे अध्यात्म शक्ति युक्त, अधिदेव शक्ति युक्त, अधिभूत शक्ति युक्त, इनमें से दो शक्तियुक्त और इनमे से तीन शक्तियों से युक्त अवतार, इस प्रकार से पांच प्रकार के अवतार जानने चाहिये और अंशावतार, आवेशावतार और पूर्णावतार, हे देवगण ! इस प्रकार से

मेरे अवतारों के अनेक भेद है। ये सब ऐश कर्म के अधीन है ॥२५-२७ ॥

दैवी शक्ति पराभूय प्रभवत्यासुरी यदा।
अप्यज्ञानं जगत्यत्र ज्ञानज्योतिर्विलुम्पति ॥२८॥

असाधवो यदा साधून क्लिश्नन्ति सहसा मुराः!।
धर्मग्लानिरधर्मस्य वृद्धया च जायते यदा ॥२९॥

जायन्ते तु यदा मा मां विस्मृत्य निरन्तरम् ।
विषयासक्तचेतस्का इन्द्रियासक्तिलोलुपाः ॥३०॥

जीवानां शं तदा कर्तुमवतीर्णा भवाम्यहम् ।
सुराः ! समष्टिसंस्कारो हेतुरेवाऽत्र विद्यते ॥३१॥

जब जब दैवी शक्ति को परास्त करके आसुरी शक्ति प्रबल होती है, जब संसार में ज्ञान को आछन्न करके अज्ञान प्रबल हो जाता है, हे देवगण ! जब असाधुगण साधुओं को सहसा क्लेश पहुंचाने लगते हैं, जब अधर्म बढ़ने से धर्म की ग्लानि होने लगती है और जब मनुष्य गण मुझको भूलकर विषयोन्मत्त और इन्द्रियपरायण हो जाते हैं तब जीवों के कल्याण करने के लिये मैं अवतीर्ण होती हूँ हे देवगण ! समष्टि संस्कार ही इसमें कारण है ॥२८-३१॥

बीजश्न कर्मणो ज्ञेयं संस्कारो नात्र संशयः।
मम प्रभावतो देवाः ! व्यष्टिसृष्टिसमुद्भवे ॥३२॥

चिजड़ग्रन्थिसम्बन्धाजीवभावः प्रकाशते ।
स्थानं तदेव संस्कार-समुत्पत्तेर्विदुर्बुधाः ॥३३॥

कर्म का बीज संस्कार जानो, इसमें सन्देह नहीं । हे देवगण ! मेरे प्रभाव से व्यष्टि सृष्टि होते समय चित् और जड़ की ग्रंथि बन्धकर जीवभाव का प्राकट्य होता है वही संस्कार-उत्पत्ति का स्थान है ऐसा विज्ञगण समझते हैं ॥३२-३३॥

सृष्टेः संस्कार एवास्ति कारणं मूलमुत्तमम् ।
प्राकृतोऽप्राकृतश्चैव संस्कारो द्विविधो मतः ॥३४॥

स्वाभाविको हि भो देवाः ! प्राकृतः कथ्यते बुधैः।
अस्वाभाविकसंस्कारस्तथाऽप्राकृत उच्यते ॥३५॥

स्वाभाविकोऽस्ति संस्कारस्तव मोक्षस्य कारणम् ।
अस्वाभाविकसंस्कारो निदानं बन्धनस्य च ॥३६॥

संस्कार ही सृष्टि का प्रधान मूल कारण है संस्कार दो प्रकार का होता है प्राकृत और अप्राकृत। हे देवगण ! विज्ञ लोग प्राकृत को स्वाभाविक और अप्राकृत को अस्वाभाविक कहते हैं। उनमें स्वाभाविक संस्कार मुक्ति का कारण और अस्वाभाविक संस्कार बन्धन का कारण होता है ॥३४-३६॥

स्वाभाविको हि संस्कारस्त्रिधा शुद्धिं प्रयच्छति।
देवाः ! षोड़शभिः सम्यक् कलाभिर्मे प्रकाश्यते ॥३७॥

मुक्तिपदोऽद्वितीयोऽपि संस्कारः प्राकृतो ध्रुवम् ।
साहाय्यात्षोड़शानां मे कलानां कर्मपारगाः ॥३८॥

ऋषयः श्रौतसंस्कारैः शुद्धि षोड़शसङ्ख्यकैः।
आर्यजातेविशुद्धाया ररक्षुर्यत्नतः खलु ॥३९॥

स्वाभाविक संस्कार त्रिविध शुद्धि देते हैं। स्वाभाविक संस्कार अद्वितीय और मुक्तिप्रद होने पर भी हे देवगण ! वह मेरी षोडशकलाओं से भलीभांति निश्चय प्रकाशित होता है मेरी षोडशकलाओं को अंवलम्बन करके कर्म के पारदर्शी ऋषियों ने वैदिक षोडश संस्कारों से पवित्र आर्यजाति को यत्नपूर्वक शुद्ध रक्खा है ॥३७-३९॥

अस्वाभाविकसंस्कारा जीवान वध्नन्ति निश्चितम् ।
अनन्तास्तस्य विज्ञेया भेदा बन्धनहेतवः ॥ ४० ॥

अस्वाभाविक संस्कार जीवों को नियमित बांधा ही करते हैं, उनके बन्धनकारक भेद अनन्त हैं॥४०॥

स्वाभाविकी यदा भूमिः संस्कारस्य प्रकाशते ।
यच्छन्त्यभ्युदयं नृभ्यो दद्यान्मुक्तिमसौ क्रमात ॥४१॥

एतावच्छ्रौतसंस्कार-रहस्यमवधार्यताम् ।
वेद्या भवद्भिरप्येषा श्रुतिर्देवाः ! सनातनी ॥४२॥

स्वाभाविक संस्कार की भूमि जब प्रकट होती है तो वह क्रमशः मनुष्यो को अभ्युदय प्रदान करती हुई अन्त में मुक्ति देती है, हे देवतागण ! आप लोग यही वैदिक संस्कार का रहस्य और सनातनी श्रुति समझे ॥४१-४२॥

संस्कारेष्वहमेवास्मि वैदिकेष्वखिलेष्वहो।
स्वसम्पूर्णकलारूपैस्तन्तुन स्वाभिमुखं नये ॥४३॥

सब वैदिक संस्कारों में मैं ही अपनी पूर्णकलारूप से विद्यमान हूँ अतः अपनी ओर मनुष्यों को आकर्षित करती हूँ ॥४३॥

गर्भाधानं पुंसवन सीमन्तोन्नयन तथा।
जातकर्म तथा नाम करणञ्चान्नप्राशनम् ॥४४॥

चूड़ोपनयने ब्रह्म-व्रतं वेदवतं तथा।
समावर्त्तनमुद्राहोऽग्न्याधानं विबुधर्षभाः ! ॥४५॥

दीक्षा महाव्रतश्चान्त्यः सन्यासः षोडशो मतः।
संस्कारा वैदिका ज्ञेया उक्तपोडशनामकाः ॥४६॥

अन्ये च वैदिकाः स्मार्ताः पौराणास्तान्त्रिकाश्च ये।
एषु षोड़शसंस्कारेष्वन्तर्भुक्ता भवन्ति ते ॥ ४७ ॥

उक्त षोडश वैदिक संस्कारों के हे देवतागण ! नाम ये हैं:-गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जात कर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौलकरण, उपनपन, ब्रह्मवत, वेदव्रत, समावर्तन, उद्वाह, अग्न्याधान, दीक्षा,

महावत और अन्तिम अर्थात् सोलहवां सन्यास है। अन्यान्य वैदिक, स्मार्त, पौराणिक और तान्त्रिक संस्कार इन्हीं सोलह संस्कारों के अन्तर्भुत हैं। ॥४४-४७॥

प्रवृत्ते रोधकास्तत्र संस्कारा अष्ट चादिमाः।
आन्तिमा अष्ट विज्ञया निहत्तेः पोपकाश्च ते ॥४८॥

उनमें प्रथम आठ संस्कार प्रवृत्तिरोधक है और अन्तिम आठ , संस्कार निवृत्तिपोषक है ॥४८॥

अतो विवेकसम्पन्नः सन्यासी विमलाशयः ।
ज्ञानाधिपारगो देवाः ! श्रद्धेयो भवतामपि ॥ ४९॥

इसी कारण हे देवतागण ! विवेक सम्पन्न विमलाशय और ज्ञानसमुद्र का पारगामी सन्यासी आप लोगों का भी श्रद्धास्पद है ॥४९॥

पूर्ण प्रकाश्य सन्यासे संस्कारः प्राकृतो मम ।
हेतुत्वं वहते मुक्तेर्मानवानामसंशयम् ॥५०॥

मेरे स्वाभाविक संस्कार का पूर्ण विकाश सन्यास, आश्रम में होकर मनुष्यों की मुक्ति का कारण अवश्य बन जाता है ॥५०॥

स्वाभाविकोऽस्ति संस्कारो मूले सहजकर्मणः।
मूले तथाऽस्ति जैवस्य संस्कारोऽप्राकृतो मम ॥५१॥

संस्कारो द्विविधश्चास्ते मूल ऐशस्य कर्मणः !
जानीतैतद्रहस्यं भोः श्रौतसंस्कारगोचरम् ॥५२॥

सहज कर्म के मूल में स्वाभाविक संस्कार, जैव कर्म के मूल में अस्वाभाविक संस्कार और ऐश कर्म के मूल में उभय संस्कार विद्यमान हैं यही श्रौत संस्कारों का रहस्य जानो ॥५१-५२॥

निखिला एवं संस्काराः साधन्ताः सम्प्रकीर्तिताः।
अतो जीवप्रवाहेऽस्मिन्ननाद्यन्तेऽपि जन्तवः ॥५३॥

मुक्तिशीलास्तथोत्पत्ति-शालिनः सन्ति सर्वथा।
नैवात्र विस्मयः कार्यो भवद्भिरमृतान्धसः ! ॥५४॥

सब संस्कार ही सादि सान्त हैं इस कारण जीवप्रवाह अनादि अनन्त होने पर भी जीव सर्वथा उत्पत्ति और मुक्तिशील है, हे देवगण! इसमें आप विस्मय न करें। ॥५३-५४॥

शुद्धिः संस्कारजन्यैव मुक्तरास्ते सहायिका।
यतः संस्कारसंशुद्धेः कर्मशुद्धिं प्रजायते ॥५५॥

कर्मशुद्धस्ततो मुक्तिर्जायते विमलात्मनाम् । .
अतः संस्कारजां शुद्धिः जगुः कैवल्यकारणम् ॥५६॥

संस्कारजन्य शुद्धि ही मुक्ति की सहायक है क्योंकि संस्कार शुद्धि से कर्म की शुद्धि और कर्म शुद्धि से निर्मल चित्तवालो की मुक्ति होती

है इसलिये संस्कार शुद्धि को कैवल्य का कारण कहते हैं। ॥५५-५६॥

बीजमुत्पद्यते वृक्षादक्षो बीजात्पुनः पुनः ।
एवमुत्पद्यमानौ तौ बीजवृक्षौ निरन्तरम् ॥५७॥

नृष्टिक्रमानन्तभाषेमुभी द्योतयतो यथा ।
एवं सृष्टिप्रवाहोऽयमनाद्यन्तोऽस्ति निर्जराः !॥५८॥

जिस प्रकार बीज से वृक्ष और वृक्ष से पुनः पुनः बीज होते हुए बीज और वृक्ष सृष्टिक्रम की अनन्तता निरन्तर प्रकाशित करते हैं हे देवगण ! वैसे ही सृष्टिप्रवाह अनादि अनन्त है । ॥५७-५८॥

यथा तु भर्जितं बीजं नाङ्कुराय प्रकल्पते ।
तथैव कामनानाशात् खलु भर्जितबीजवत ॥५९॥

संस्कारा आप जायन्ते सर्वथा मुक्तिहेतवः।
नात्र कश्चन सन्देहो विद्यतेऽदितिनन्दनाः ॥६०॥

परन्तु भुना हुआ बीज जिस प्रकार अंकुर की उत्पत्ति करने में असमर्थ है उसी प्रकार कामना के नाश हो जाने से संस्कार समूह भी भुने हुए बीज के सदृश होकर ही सर्वथा मुक्ति के कारण बन जाते हैं, हे देवगण ! इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥५९-६०॥

गुणत्रयात्मिका देवाः ! विद्यते प्रकृतिर्मम ।
तस्याः स्पन्दादभूत्कर्म सहनातमतोऽस्ति तत ॥६१॥

मेरी प्रकृति त्रिगुणमयी होने के कारण और कर्म प्रकृतिस्पन्दन से उत्पन्न होने के कारण उसका सहजात है ॥६१॥

संस्कारो बीजतुल्योऽस्ति कर्मात्राकुरसन्निभम् ।
अतो नष्टे हि संस्कारे कर्मणः सम्भवः कुतः ॥६२॥

संस्कार और कर्म बीज और अंकुर सदृश हैं इसलिये संस्कार नष्ट होने पर कर्म का होना कैसे सम्भव है ॥६२॥

जन्यत्वात्प्रकृतेः साक्षात्सहजं कर्म कोविदाः।
उत्पत्तेरापि मोक्षस्य जीवानां कारणं विदुः ॥६३॥

दशा सहज कर्म प्रकृति से साक्षात् उत्पन्न होने के कारण जीवोत्पत्तिका भी कारण है और जीव मुक्ति विधायक भी है इस बात को पण्डित लोग जानते हैं। ॥६३॥

प्रतिकूल्येन जैवन्तु जीवानां कर्म बन्धनम् ।
यावज्जैवं न वै कर्म संस्कारैदिकः शुभैः ॥६४॥

पूर्ण शुद्धं सदाप्नोति दशां स्वाभाविकी हिताम् ।
तावन्नूनं भवेत्पूर्ण जीवकैवल्यबाधकम् ॥६५॥

परन्तु जैव कर्म इससे विपरीत होने के कारण जीव के बन्धन का कारण है और जब तक वह शुभ वैदिक संस्कारों से परिशुद्ध होकर हितकारिणी स्वाभाविक दशा को नहीं प्राप्त होता तब तक जीव की मुक्ति का निश्चय ही पूर्ण बाधक रहता है। ॥६४-६५॥

धर्मस्य धारिका शक्तिस्तस्य चाभ्युदयप्रदः ।
क्रमः कैवल्यदश्चैव सहजे प्राकृते शुभे ॥६६॥

नित्यं जागर्ति संस्कार पाणिनां हितसाधके ।
विश्वकल्याणदे नित्ये सर्वश्रेष्ठे मनोरमे ॥६७॥

धर्म की धारिका शक्ति और धर्म का अभ्युदय और निःश्रेयस प्रदान का क्रम प्राणियों के हित साधक, संसार के कल्याणकारक, नित्य, शुभ, सर्वश्रेष्ठ और मनोरम सहजात स्वाभाविक संस्कार में नित्य बना रहता है ॥६६-६७॥

संस्कारप्वहमेंवास्मि सर्वेपूक्तेषु सन्ततम् ।
संस्थिता धर्मरूपेण निश्चितं विबुधर्षभाः ! ॥६८॥

हे देवगण ! उक्त षोडश संस्कारों में ही धर्म रूप से सदा ही विद्यमान हूँ ॥६८॥

नारीजातौ तपोमूलः सतीधर्मः सनातनः ।
स्वयमेव हि संस्कार-शुद्धि जनयते ध्रुवम् ॥६९॥

नारीजाति के लिये तपोमूलक सनातन सती-धर्म संस्कारशुद्धि अपने आप ही उत्पन्न करता है यह निश्चय है ॥६९॥

वर्णाश्रमाख्यधर्मस्य मादा नितरां तथा।
नृजातावपि संस्कार-शुद्धि जनयतेतराम् ॥७०॥

उसी प्रकार पुरुषजाति में भी वर्णाश्रम धर्ममर्यादा संस्कार शुद्धि को निरन्तर उत्पन्न करती है ॥७०॥

नार्यर्थं पुरुषार्थश्च धर्मावुक्तावुभावपि ।
स्वाभाविकावतस्स्तस्तौ सदाचारावनादिकौ ॥७१॥

स्त्री और पुरुष के लिये यह दोनो धर्म स्वाभाविक है अतः ये दोनों सदाचार अनादि हैं ॥७१॥

एतदद्वयसदाचारालम्बनादेव निर्जराः!!
लभन्ते च नरा नार्यः कैवल्याभ्युदयौ क्रमात् ॥७२॥

हे देव गण! इन दोनों सदाचारो के अवलम्बन से ही यथाक्रम नारीजाति और पुरुष जाति अभ्युदय और निःश्रेयस को प्राप्त करती है ॥७२॥

उभावेतौ सदाचारौ शुद्धिवैविध्यकारको।
संस्कारस्य च सर्वस्य प्राकृतस्य प्रकाशको ॥७३॥

ये दोनों सदाचार त्रिविध-शुद्धिविधायक है, सकल स्वाभाविक संस्कारों के प्रकाशक हैं ॥७३॥

वर्द्धको स्तश्च सत्त्वस्य कैवल्याभ्युदयप्रदौ।
सतीधर्माश्रयान्नारी पत्यौ तन्मयतां गता ॥७४॥

नारीयोनेः सती मुक्ता भुक्त्वा स्वर्गसुखं चिरम् ।

उन्नतां पुरुपस्यैव योनि प्राप्नोत्यसंगयम् ॥७५॥

सत्त्वगुणवर्द्धक हैं और अभ्युदय और निःश्रेय सप्रद हैं । सतीधर्म के आश्रय से स्त्री पति तन्मयता लाभ करके बहुकाल तक स्वर्ग सुख भोगती हुई नारी योनि से मुक्त होकर उन्नत पुरुष योनि को ही निश्चय प्राप्त हो जाती है ॥७४-७५॥

सम्यग्वर्णाश्रमाख्यस्य श्रौतधर्मास्य सेवया ।
विश्वेषां गुरवो मान्या निविला आर्यपूरुषाः ॥७६॥

आद्ध्येनार्गाला स्वीयां प्रवृत्तिमवरुध्य ते।
परिपोष्य निवृत्तिश्च परेणात्मप्रकाशिकाम् ॥७७॥

अपवर्गास्पदं नित्यं परमं मङ्गलं चिरम् ।
प्राप्नुवन्ति सुपर्वाणः! स्यादेपोपनिषत्परा ॥७८॥

वेदविहित वर्णाश्रम धर्म की सुन्दररूप से सेवा करने से जगद्गुरु और मान्य समस्त आर्य पुरुषगण प्रथम के द्वारा अपनी अनर्गल प्रवृत्ति को रोक कर और दूसरे के द्वारा आत्मप्रकाशिका निवृत्ति को बढ़ाकर परमंगलमय और नित्य कैवल्यपद को निरन्तर प्राप्त कर लेते हैं, हे देवगण ! यही श्रेष्ठ उपनिषद् है ॥ ७६-७८ ॥

विबुधाः ! साम्प्रतं वच्मि कर्मत्रौविध्यगोचरम् ।
वैज्ञानिक स्वरूपं का सावधाननिशम्यताम् ॥७९॥

हे देवतांगण ! अब मैं आपको विविध कर्म का वैज्ञानिक स्वरूप बताती हूँ, सावधान होकर सुनो ॥७९॥

स्वभावात्प्रकृतौ हि स्पन्दते परिणामिनी ।
म एव स्पन्दहिल्लोला स्वभावोत्पादितो मुहुः ॥८०॥

सदैवास्ते भवन देवाः ! स्वरूपे प्रतिविम्बितः।
तस्मान्मम प्राकृतानां गुणानां परिणामतः ॥८१॥

अविद्याऽऽविर्भवेन्नूनं तरंगैस्तामसोन्मुखैः।
सत्वोन्मुखैश्च तैर्देवाः ! विद्याऽऽविर्भावमति च ॥८२॥

मेरी प्रकृति स्वभाव से ही परिणामिनी होकर स्पन्दित होती है। हे देवगण ! वही स्वभावजनित स्पन्दन का हिल्लोल सदा ही स्वरूप में बारम्बार प्रतिफलित होने लगता है, अतः मेरी प्रकृति के गुण परिणाम के कारण तम की ओर के तरंग से अविद्या और सत्त्व की ओर के तरंग से विद्या प्रकट अवश्य होती है ॥८०-८२॥

तदाऽविद्याप्रभावेण तरङ्गाणां मुहुर्मुहुः।
आघातमतिघाताभ्यां जलैः पूर्णे जलाशये ॥८३॥

अगण्यवीचिसद्धेषु नैकवैधवविम्बवत् ।
चिजड़ग्रन्थिभिर्देवाः ! स्वत उत्पद्य भूरिशः ॥८४॥

जीवप्रवाहपुंजोऽयमनाद्यन्तो वितन्यते ।
तदेवोत्पद्य संस्कारो नूनं स्वाभाविको मम ॥८५॥

उस समय अविद्या के प्रभाव से बारम्बार तरंगो के घात प्रतिघात द्वारा, जलपूर्ण जलाशय के अगणित तरंगो में अनेक चन्द्रविम्ब के प्रकाश के समान, हे देवगण ! स्वतः ही अनेक चिजडग्रन्थि उत्पन्न होकर अनादि अनन्त जीव प्रवाह को विस्तार करती है । उसी समय मेरा स्वाभाविक संस्कार अवश्य उत्पन्न होकर संसार विस्तारकारी सहजकर्म से ही स्थावर जंगमात्मक सृष्टि प्रकट करता है ॥८३-८६॥

कर्मणा सहजेनैव विश्वविस्तारकारिणा ।
आविर्भावयते अष्टि जङ्गमस्थावरात्मिकाम् ॥८६॥

किन्तु मानवदेहेषु पूर्णे जीवत्व आगते ।
जैवमुत्पद्यते कर्म तत्र तत्क्षणमेव तु ॥८७॥

अस्वाभाविकसंस्कार-प्रवाहो वहते ध्रुवम् ।
जैवकर्मप्रभावात्स वैश्ववैचित्र्यसंकुलम् ॥८८॥

त्रितापप्रचुरं रक्षेदावागमनचक्रकम् ।
जैवकर्मप्रभावाच्च तस्मादेव भवन्त्यमी ॥८९॥

नरकप्रेतपित्रादिभोगलोकाः स्वरन्विताः।
मृत्युलोकात्मकः कर्म-लोकश्च विबुधर्षभाः ! ॥९०॥

उत्पद्यन्ते तथेमानि भुवनानि चतुर्दश।
विद्याऽऽस्ते मामकीना या पूर्णसत्त्वगुणान्विता ॥९१॥

एतस्याः कारणत्वेन शक्तिरैशस्य कर्मणः ।
विचित्रास्ति'तयोस्ताभ्यां कर्मभ्याञ्च सहायिका ॥९२॥

परन्तु जीवत्व की पूर्णता मनुष्य शरीर में प्राप्त होने पर जैव कर्म उत्पन्न होता है और वहां उसी समय अस्वाभाविक संस्कार का प्रवाह प्रवाहित अवश्य होता है और वह जैव कर्म के बल से ब्रह्माण्ड के वैचित्र्य से युक्त और त्रितापमय आवागमन चक्र को स्थायी रखता है। उसी जैवकर्म के प्रभावसे स्वर्गलोक सहित नरकलोक, प्रेत लोक, पितृलोकादि, भोगलोक और मृत्युलोक रूपी कर्मलोक तथा हे देवगण ! चतुर्दश भुवन उत्पन्न होते हैं। पूर्ण सत्त्वगुणमयी मेरी विद्या के कारण ऐश कर्म की शक्ति उन दोनों कर्मों की सहायक होने पर भी उनसे विचित्र है ॥८७-९२॥

विद्यायां सत्त्वपूर्णायामविद्यायाः कथञ्चन ।
नैवास्ते लेशमात्रं हि विद्यासेवित ईश्वरः ॥९३॥

सर्वतोऽतस्तटस्थोऽपि सर्वेपामन्तरात्महक् ।
यथायथं पालयते सृष्टिस्थितिलयक्रमम् ॥९४॥

विद्यावस्था में सत्त्वगुण की पूर्णता होने से किसी प्रकार से भी अज्ञान का लेशमात्र नहीं रहता, इस कारण विद्यासेवित ईश्वर सबसे अलग रहकर भी सबके अन्तद्रष्टा होकर सृष्टि, स्थिति, लय का क्रम यथावत् पालन कराते हैं ॥९३-९४॥

अतोऽहमेव सम्प्रोच्ये जगत्यां जगदीश्वरी ।

महामान्या जगद्धात्री सर्वकल्याणकारिणी ॥९५॥

इसी कारण मैं ही जगत में जगदीश्वरी विश्वकल्याणकारिणी जगद्धात्री महामान्या कहलाती हूँ ॥९५॥

देवाः ! प्रकृतिजन्यत्वादस्ति कर्म जडात्मकम् ।
अतः कमंत्रयेऽपि स्यात्पूर्णा वस्मुसहायता ॥९६॥

हे देवतागण ! कर्म प्रकृतिसात होनेके कारण जड़ है इस 'कारण तीनों कर्मों में आपलोगों की पूरी सहायता विद्यमान है ॥९६॥

सञ्चालने भवन्तो हि कर्मणः सहजस्य मे ।
पूर्ण सहायकाः सन्ति तन्मे प्रकृतिसादयतः ॥९७॥

सहजकर्म के सञ्चालन में आपलोग पूर्ण सहायक हो क्योकि सहजकर्म मेरी प्रकृतिके अधीन है ॥९७॥

जैवं कर्मास्ति जीवानामायत्तं प्रकृतेर्यतः।
अतस्तत्रार्द्धसम्बन्धो वर्त्तते भवतां सुराः ! ॥९८॥

भवन्तो मानवानां हि सन्ति प्रारब्धचालकाः।
पुरुषार्थस्य कर्तारः स्वयं जीवा न संशयः ॥९९ ॥

हे देवतागण ! जैव कर्म जीवप्रकृति के अधीन होनेके कारण उसमें आपका आधा सम्बन्ध है क्योंकि मनुष्यों में प्रारब्ध के सञ्चालक आपलोग और पुरुषार्थ के कर्ता स्वयं जीव हैं ॥९८–९९॥

किन्त्वैशकर्मणो देवाः ! आज्ञां लब्ध्वाऽथ मामकीम् ।
अवतीर्य भवन्तो वै सम्पद्यन्ते सहायकाः ॥१०० ॥

परन्तु हे देवतागण ! मेरी आज्ञा को पाकर अवतार ग्रहण करके तुमलोग ऐश कर्म के सहायक बनते हो ॥१००॥

ममावतारसाहाय्ये प्रवर्त्तन्तेऽथवा द्रुतम् ।
अत्यन्तमस्ति दुर्ज्ञेया गहना कर्मणो गतिः ॥१०१॥

अथवा मेरे अवतारों की सहायता में शीघ्र प्रवृत्त होते हो। कर्म की गहन गति अति दुर्ज्ञेय है। ॥१०१॥

राजते कर्मराज्यश्च नानावैचित्र्यसङ्कुलम् ।
अनन्तपिण्डब्रह्माण्ड-कर्तृ कर्मैव विद्यते ॥१०२॥

कर्मराज्य नाना वैचित्र्य से पूर्ण है और कर्म ही अनन्त पिण्ड और अनन्त ब्रह्माण्डों का कर्ता है। ॥१०२॥

यो मे कर्मगति वेति स मत्सानिध्यमाप्नुयात् ।
न स्वल्पोऽप्यत्र सन्देहो विधेयो विस्मयोऽथवा ॥१०३॥

जो मेरे कर्मों की गतिको जानता है वह मेरे सान्निध्य को लाभ करता है इसमें सन्देह और विस्मय कुछ भी नहीं करना चाहिये ॥१०३॥

दक्षाः कर्मगतिं ज्ञातुं भक्ता ज्ञानिन एव मे।
ज्ञातुं कर्मगति जीवा अन्यथेच्छन्त आत्मना ॥१०४॥

विद्याभिमानिनो मूढा मम भक्तेः पराङ्मुखाः।
विमार्गगाः पतन्त्याशु रात्रयन्धा इव गह्वरे ॥१०५॥

मेरे ज्ञानी भक्त ही कर्मगतिवेत्ता हो सकते हैं। अन्यथा कर्म की गति जानने की स्वयं इच्छा करनेवाले मेरी भक्ति से विमुख विद्याभिमानी मूर्ख जीव, मूर्खराज्यन्ध के समान विपथगामी होकर गड्ढे में शीघ्र गिर जाते हैं। ॥१०४-१०५॥

जैवस्य कर्मणो देवा ! द्वे गती स्तः प्रधानतः ।
जीवानेका गतिजैवी ह्यधस्तान्नयते तयोः ॥ १०६ ॥

प्रापयेत जड़त्वं च देवाः ! साऽऽस्ते तमोमयी।
यतश्चाधर्मसम्भूता वर्त्ततेऽसौ दिवौकसः ! ॥१०७॥

हे देवगण ! जैवकर्मकी प्रधान दो गति हैं। उनमें से एक गति जीवोंको अधःपतित करती है और उनको जडत्व की ओर ले जाती है, वह तमोमयी गति है क्योंकि वह अधर्मसम्भूत है ॥१०६-१०७॥

उर्द्धवं प्रापयते जीवान द्रुतं जैव्यपरा गतिः ।
स्वरूपं चेतनञ्चासावभिलक्ष्य प्रवर्तयेत् ॥१०८॥

धर्मास्य धारिकाशक्ति युता सत्त्वमयी हि सा।
इयं हि कर्मणो देवाः ! गतिः सेव्योर्द्धवगामिनी ॥१०९॥

उसकी दूसरी गति जीवों को शीघ्र उद्धर्व करती है और उनको स्वस्वरूप चेतन की ओर प्रवृत्त करती है, वह गति सत्त्वमयी है क्योंकि वह धर्म की धारिका शक्ति से युक्त है। हे देवगण ! कर्म की यही उद्धर्व गामिनी गति सेवनीय है ॥ १०८-१०९॥

देवाः ! उद्धर्व गतेर्जैव-कर्मणोऽस्याः कदाचन ।
विच्योतेरन कथञ्चिन्न भवन्तो भोगलोलुपाः ॥११०॥

हे देवतागण ! आपलोग कदापि भोग लालसा के वशीभूत होकर जैव कर्म की इस उद्धर्व गामिनी गति से किसी प्रकार च्युत न होना ॥११०॥

मार्गमालम्ब्य मे नूनमेनमेवोश्वगामिनम् ।
मामनायासमेवाशु भवन्तो लब्धुमीश्ते ॥१११॥

इसी उद्धर्व गामी मेरे मार्ग को अवलम्बन करके आप मुझको अनायास शीघ्र ही प्राप्त हो सकोगे॥१११॥

श्रूयतां मद्वचो देवाः ! कर्मणा सह सर्वथा।
सम्बध्येतेऽथ शक्ती द्वे आकर्षणविकर्षणे ॥११२॥

हे देवतागण मेरी बात सुनो, कर्म के साथ दो शक्तियों का सर्वथा सम्बन्ध है, एक आकर्षण शक्ति और दूसरी विकर्षण शक्ति ॥११२॥

दिवौकसः ! रागमूला शक्तिराकर्षणाभिधा।
भवद्भिरवगन्तव्या समुत्पन्ना रजोगुणात् ॥११३॥

आकर्षण शक्ति रागमूलक होने से रजोगुण से उत्पन्न है, हे देवगण ! इसको आप समझें ॥११३॥

विकर्षणाख्या या शक्तिरपरा द्वेषमूलिका।
अवधार्या भवद्भिः सा समुद्भूता तमोगुणात् ॥११४॥

दूसरी विकर्षण शक्ति द्वेषमूलक होने के कारण तमगुण से उत्पन्न है ऐसा आप समझे ॥११४॥

आभ्यां द्राभ्यां हि शक्तिभ्यां ब्रह्माण्डं निखिलं तथा।
पिण्डं समस्तमाच्छन्नं सत्यमेतद्वदामि वः ॥११५॥

इन्हीं दोनों शक्तियोंसे समस्त ब्रह्माण्ड और समस्त पिण्ड आच्छन्न है, इसको आप लोगों से मैं सत्य कहती है ॥११५॥

एतच्छक्तिद्वयं ह्यास्ते मयि नैवास्म्यहं तयोः।
बलाच्छक्तिद्वयस्यास्य कर्मजातमथाखिलम् ॥११६॥

सम्विभक्तं द्विधा देवाः ! उत्तरोत्तरवर्द्धकम् ।
सृष्टेर्दन्द्वात्मिकाया मे प्रवाहं बाहयत्यहो ॥११७॥

ये दोनों ही शक्तियाँ मुझ में है परन्तु मैं इन दोनों में नहीं हूँ। इन दोनों शक्तियों के प्रभाव से सब कर्मसमूह द्विधा विभक्त होकर मेरी

द्वन्द्वात्मक सृष्टि का प्रवाह उत्तरोत्तर प्रवाहित करते रहते हैं ॥११६-११७॥

समता च द्वयोर्यत्र शक्तयो: संजायते शुभा।
तत्रैव सत्त्वसञ्ज्ञष्ट-ज्ञानानन्दस्थितिर्भवेत् ॥११८॥

इन दोनों शक्तियों की जहां सुन्दर समता होती है वहीं सत्त्वगुण मय ज्ञान और आनन्द का स्थान है। ॥११८॥

अहं तस्यामवस्थायां सत्त्वमय्यां सदा सुराः ।
नन्याविर्भावमापन्ना सन्तिष्टे नात्र संशयः ॥११९॥

उसी सत्त्वगुणमय अवस्था में मैं सदा प्रकट रहती हूँ ,हे देवगण ! इसमें सन्देह नहीं है ॥११९॥

काऽप्यवस्था बन्धहेतुः शक्तिद्वयसमन्विता।
जीवानां सर्वथा देवाः जीवत्वस्यैव पोषिका ॥१२०॥

इन दोनों शक्तियों से युक्त धन करने वाली वह अवस्था सर्वथा जीवों के जीवत्व की ही पोषिका है ॥१२०॥

सत्वावस्था तृतीया या सैव मुक्तिप्रदायिका।
'एतच्छौतरहस्यं हि ज्ञायतां विबुधर्षभाः! ॥१२१॥

तीसरी सत्त्वगुण की जो अवस्था है वही मुक्ति विधायिका है, हे देवगण ! यही वेदों का रहस्य है सो आप जानें ॥१२१॥

द्वन्द्वात्मिकाऽस्ति या शक्तिस्तन्मूलं विबुधाः । अतः ।
मुच्यतां सर्वदा कर्म रागद्वेषादिसंकुलम ॥१२२॥

हे देवतागण ! इस कारण आपलोग द्वन्द्वात्मक-शक्तिमूलक और रागद्वपादि संकुल कर्म का सर्वदा त्याग करें ॥१२२॥

रागद्वेषादिभिर्मुक्ता द्वन्द्वातीतपदं गताः।
निष्कामाः सत्त्वसम्पन्ना यूयं कर्तव्यकर्मणि ॥१२३॥

कर्मयोगरताः सन्तस्तत्परा भवतामराः!।
सर्वोत्तमफलं लब्ध्वा सानन्दा भवताप्यहो ॥१२४॥

हे देवगण ! रागद्वेष से विमुक्त होकर द्वन्द्वातीत पदवी को लाभ करते हुए निष्काम होकर और सत्वगुण से युक्त होकर कर्मयोगी होते हुए कर्तव्यकर्मपरायण होवे और सर्वोत्तम फल पाकर आनन्दित होवें ॥१२३-१२४॥

भो देवाः ! कर्मयोगेऽस्मिन् प्रत्यवायो न विद्यते ।
काप्येतत्कृतं स्वल्पं त्रितापं हरते क्षणात ॥१२५॥

हे देवगण ! इस कर्मयोग में प्रत्यवाय नहीं है और यह कर्म थोडा सा किया हुआ भी शीघ्र त्रिताप को दूर करता है ॥१२५॥

कर्मयोगोऽयमेवाशु कामनाविलयेन हि।
समुत्पादयते देवाः ! शुद्धिं संस्कारगोचराम् ॥१२६॥

हे देवगण ! यही कर्मयोग कामना के विलयद्वारा संस्कारशुद्धि शीघ्र उत्पन्न करता है ॥१२६॥

संस्कारशुद्धितो नूनं क्रियाशुद्धिः प्रजायते ।
अविद्यायाः क्रियाशुद्ध्या लयः सम्पद्यते ध्रुवम् ॥१२७॥

अविद्याविलयाद्विद्या- साहाय्यानव्यति स्वयम् ।
चिज्जड़ग्रन्थिरज्ञानमूलिका नात्र संशयः ॥१२८॥

संस्कार शुद्धि से ही क्रियाशुद्धि होती है और क्रियाशुद्धि से अविद्या का विलय अवश्य होता है और उससे विद्या की सहायता के द्वारा अज्ञान मूलक चिजडग्रन्थि का नाश स्वयं हो जाता है इसमें सन्देह नहीं ॥१२७-१२८॥

चिज्जडग्रन्थिसनाशाज्जीवो वै जायते शिवः।
नैवात्र विस्मयः कार्यो भवद्भिरमतान्धसः ॥१२९॥

और चिजड ग्रन्थि के नाश होनेसे हो जीव शिव हो जाता है। हे देवगण! आपलोग इसमें विस्मय न करो ॥१२९॥

ब्रह्माण्डपिण्डरूपस्य ह्यनाद्यन्तस्य कोविदाः ।
देवाः ! सृष्टिप्रवाहस्य कर्मैवोत्पादकं जगुः ॥१३०॥

हे देवगण ! कर्म ही ब्रह्माण्ड और पिण्डात्मक अनादि अनन्त सृष्टिप्रवाह का उत्पादक है, सुधीगण ऐसा कहते हैं ॥१३०॥

कर्मप्रवाहोऽनायन्तस्ततस्तद्भोगलिप्सया।
सक्तानां तत्र जीवानां कर्मनाशः मुदुष्कर ॥१३१॥

अथवा मोचनं नूनं दुर्लभं कर्मवन्धनान।
वर्तते विबुधश्रेष्ठाः ! किमन्यद्वो ब्रवीम्यहम् ॥१३२॥

कर्मप्रवाह अनादि अनन्त है इस कारण कर्म के भोग की इच्छा से, कर्म में आसक्त होकर, कर्म का नाश करना अथवा कर्म के फन्दे से मुक्त होना जीवों के लिये असम्भव है, हे देवश्रेष्ठगण आपलोगों से और मैं क्या कहूँ॥१३१-१३२॥

तत्कर्मवीजसंस्कारमुन्मूलयितुमात्मना ।
निष्कामनाव्रतैः सद्भिर्भवद्भिर्यत्यता मुराः ॥१३३॥

इस कारण हे देवगण ! आपलोग निष्काम व्रत होकर कर्मबीजरूपी संस्कार के नाश करने में स्वयं प्रयत्न करो ॥१३३॥

तस्याहं सुगमोपायं वर्णये वः पुरोऽधुना।
समाहितर्भवद्भिश्च श्रूयतां मे हितं वचः ॥१३४॥

इसका सुगम उपाय मैं आपलोगोंके सामने इस समय वर्णन करती हूँ, आपलोग भी सावधान होकर मेरी हितकी बात सुनें ॥१३४॥

मत्परायणतां पुण्यां गृणीताश्रयणं मम ।
मद्भक्ताः सततं कर्म मयुक्ताः कुरुतामराः ! ॥१३५॥

हे देवगण ! आप मेरी पवित्र परायणता को ग्रहण करो, मेरा आश्रय ग्रहण करो मुझ मे ही भक्तिमान् हों और मुझमें युक्त होकर निरन्तर कर्मकरो ॥१३५ ॥

मदयुक्तै कृतं कर्म बन्धनाय प्रकल्पते ।
मयुक्तैर्विहितं तत्तु दत्ते कैवल्यमुत्तमम् ॥१३६॥

मुझ में अयुक्त होकर किया हुआ कर्म बन्धनदशा को उत्पन्न करता है और मुझमे युक्त होकर किया हुआ कर्म उत्तम कैवल्यप्रद है ॥१३६॥

संसारोऽतिविचित्रोऽयं जीवबन्धनकारकः।
विकर्षणाकर्षणोत्थ-द्वन्द्वादेव मजायते ॥१३७॥

सतिष्ठते च जीवानां द्वन्द्वः स्यात् बन्धकारणम् ।
परन्त्वस्त्येकतत्त्वं हि मुक्तेः कारणमुत्तमम् ॥१३८॥

तदाश्रयेण मद्भक्ता द्वन्द्वातीता विमत्सराः ।
युक्तकर्मरताः सन्तो निषपापा मत्परायणाः ॥१३९ ॥

यदा भवन्ति भो देवाः ! निष्कामव्रतधारिणः ।
तदैव मोक्षसम्प्राप्तेर्जायन्ते तेऽधिकारिणः ॥१४०॥

हे देवतागण ! आकर्षण-विकर्षण जनित, द्वन्द से ही बंधन करनेवाला यह अति विचित्र संसार उत्पन्न होता है और स्थित रहता है क्योंकि द्वन्द्व ही जीवोंके बन्धन का कारण है परन्तु एकतत्त्व ही मुक्ति का

उत्तम कारण है उसके आश्रय से द्वन्द्वातीत और विमत्सर होकर जब मेरे भक्त युक्त कर्ममें रत होकर निष्पाप मत्परायण और निष्काम-प्रतधारी हो जाते हैं तभी वह कैवल्य पद प्राप्ति के अधिकारी होते हैं ॥१३७–१४०॥

यदा संस्कारवीजं स्यान्निष्कामानलभार्जितम।
जैवं कर्म तदा रक्त-बीजरूपं प्रणश्यति ॥१४१॥

रक्तबीज रूपी जैवकर्म तभी नाश को प्राप्त होते हैं जब संस्कारबीज निष्कामरूपी अग्नि से दग्ध कर दिये जायें ॥१४१॥

एवं सति स्वयं जीवा जैवीं प्रकृतिमात्मनः ।
त्यक्त्वा मत्प्रकृतिं नूनमाश्रयन्ते शिवपदाम ॥१४२॥

ऐसा होनेपर जीव स्वतः अपनी जैव प्रकृति को छोड़कर मेरी परम मङ्गलकर प्रकृति का ही आश्रयग्रहण करते हैं॥१४२॥

तदा मत्मकृतिविद्या-रूपं धृत्वा मनोहरम् ।
साधकेभ्यो ध्रुवं तेभ्यो दत्ते कैवल्यमुत्तमम् ॥१४३॥

मेरी प्रकृति तब मनोहर विद्यारूप धारण करके उन्हीं साधकों को उत्तम मुक्ति प्रदान करती है। ॥१४३॥

कर्मप्रतिक्रिया देवाः ! अदम्याऽस्ति न संशयः।
तत्फलोत्पादिका शक्तिरफला नो कदाचन ॥१४४॥

हे देवतागण ! कर्म की प्रतिक्रिया निस्सन्देह अदमनीय है और कर्म को फलोत्पादिका शक्ति कभी भी अफला नहीं होती ॥१४४॥

अतो मुक्तेऽपि जीवेऽस्मिन् तत्कृताः कर्मराशयः।
निर्वीजा निष्फला नैव जायन्ते विबुधर्षभाः ! ॥१४५॥

इस कारण हे देवगण! जीव मुक्त हो जाने पर भी उसके किये हुए कर्मसमूह निर्बीज और निष्फल नहीं होते हैं ॥१४५॥

निर्जराः ! मुक्तजीवानां कर्मसंस्कारराशयः ।
ब्रह्माण्डस्य चिदाकाशमाश्रयन्त्यो निरन्तरम् ॥१४६॥

जायन्ते पोपिकाः सम्यक्कर्मणोः सहजैशयोः ।
सत्यमेतद्विजानीत निश्चितं वो ब्रवीम्यहम् ॥१४७॥

मुक्तजीवों के कर्मों की संस्काररराशि ब्रह्माण्ड के चिदाकाश को आश्रय करके निरन्तर सहजकर्म और ऐशकर्म की पोषक भली भांति बन जाती है, हे देवतागण ! इसको सत्य जाने, मैं ठीक कहती हूँ ॥१४६-१४७॥

कर्म प्रायेण दुर्ज्ञेयं वर्तते नात्र संशयः ।
सन्त्येव निखिला जीवाः कर्मोघवशवर्तिनः ॥१४८॥

यूयं भवन्तो भो देवाः ! विश्वेषां शासका अपि। ।
महान्तोऽपि सुयुक्ताः स्थ सुदृढ़ैः कर्मबन्धनै ॥१४९॥

कर्म एक प्रकार से दुर्ज्ञेय है इसमें सन्देह नहीं । सब जीवगण तो कर्मों के वशीभूत होते ही हैं और हे देवगण ! तुम लोग जगत् के नियामक और महान् होने पर भी सुदृढ़ कर्म बंधन से युक्त हो ॥१४४-१४६॥

वाच्य किमत्र गीर्वाणाः ! अवतीर्णा स्वतोऽप्यहम् ।
बद्धा कर्मसु वर्तेऽहं नात्र कार्या विचारणा ॥१५०॥

हे देवतागण ! इसमें क्या कहा जाय, यहां तक कि मैं भी अपनी इच्छा से अवतार धारण करती हुई कर्म में बंध जाती हूँ, इसमें कुछ विचारने की बात नहीं है ॥१५०॥

जीवन्मुक्ता महात्मानो मद्भक्ता ज्ञानिनोऽमराः।
प्राप्ता जीवद्दशायां ये मत्सायुज्यमसंशयम् ॥१५१॥

तेऽपि नैव विमुच्यन्ते ध्रुवं कर्मप्रभावतः।
जीवन्मुक्तैर्हि मद्‌तै निभिश्चापि भुज्यते ॥१५२॥

जैवकर्मस्वरूपं वै प्रारब्धं कर्म निश्चितम् ।
प्रारब्धकर्मभिर्यस्माद्भगोगादेव प्रणश्यते ॥१५३॥

हे देवगण ! मेरे ज्ञानी भक्त जीवन्मुक्त महात्मा जो जीवित दशा में ही मेरी सायुज्य दशा को प्राप्त हो जाते हैं वे भी कर्म के प्रभाव से अवश्य ही बच नहीं सकते। मेरे जीवन्मुक्त ज्ञानी भक्तो को भी जैवकर्म रूपी

प्रारब्ध कर्म का भोग अवश्य ही करना पड़ता है क्योंकि प्रारब्ध का भोग से ही क्षय होता है॥१५१-१५३॥

वासनासंक्षयान्नूनं कर्मणः सहजस्य वै ।
निघ्नतां यान्ति ते मुक्ताः परसौभाग्यशालिनः ॥१५४॥

जीवन्मुक्ता महात्मानो यतः स्युमत्परायणाः।
तत्ते किमप्यनिच्छन्तो विचरन्ति महीतले ॥१५५॥

वासनानाश हो जाने से उन परमसौभाग्यशाली मुक्तों को सहजकर्म के ही अधीन बनना पड़ता है क्योंकि वह जीवन्मुक्त महात्मा मत्परायण होने से इच्छारहित होकर पृथिवीपर विचरते हैं। ॥१५४-१५५॥

कर्मणः सहजस्यामी निघ्नाः सन्ति यतः सुराः ।
भवद्दैवक्रियाणां ते केन्द्रीभूता भवन्त्यतः ॥१५६॥

हे देवतागण ! वह सहज कर्म के अधीन होने के कारण तुम्हारी देवी क्रियाओं के भी केन्द्र बन जाते हैं ॥१५६॥

अहं यद्यपि भक्तभ्यो ज्ञानिभ्यो हि किमप्यणु ।
कदाचिदप्यहो कष्टं दातुं नैवोत्सहे सुराः! ॥ १५७ ।।

तथापि रुचितस्तेषां तान् संयोज्यैशकर्मणा।
तैर्ध्रुवं विश्वकल्याणं कारयेऽहमतन्द्रितैः ॥१५८॥

हे देवगण ! यद्यपि मैं ज्ञानी भक्तो को कभी भी किसी प्रकार से अणु मात्र भी क्लेश पहुंचाना नहीं चाहती परन्तु यदि उनकी रुचि अनुकूल होती है तो मैं उनको ऐशकर्म से युक्त करके उन उद्योगियों से जगत का कल्याण निश्चय कराती हूँ ॥ १५७-१५८ ॥

माहात्म्यं कर्मणो देवाः ! सर्वश्रेष्ठत्वमाश्रितम्।
कर्मा भक्ता अपि त्यस्तुं प्रभवो ज्ञानिनोऽपि न ॥१५९॥

हे देवतागण ! कर्मों की महिमा सर्वोपरि है क्योकि भक्त को भी कर्मी बनना पड़ता है और ज्ञानीको भी कर्मी बनना पड़ता है। ॥१५९॥

यावदेह न कोऽपीशः कर्म त्यक्तुमशेषतः।
कर्मयोगाश्रितैस्तस्माद्भवद्भिर्मत्परायणैः ॥१६०॥
प्रतिभैवम्विधा शुद्धा नूनमुत्पाद्यतां सुराः ।
कर्मण्यकर्म पश्यन्तो ययाऽकर्माणि कर्म च ॥१६१॥

कर्त्तव्यं कर्म कुर्वन्तो विमुक्ताः कर्मवन्धनात् ।
मत्सायुज्यदशामेत्य कृतकृत्यत्वमाप्नुत ॥१६२॥

और शरीर रहते हुए पूर्ण रूप से कर्म का त्याग असम्भव है इस कारण हे देवतागण! आप लोग कर्मयोगी और मेरे परायण होकर ऐसी शुद्ध प्रतिभा निश्चय ही उत्पन्न करो जिससे तुम लोग कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखते हुए और कर्तव्यकर्म करते हुए कर्मबंधन से मुक्त हो जाओ और मेरे सायुज्य को प्राप्त होकर कृतकृत्य हो जाओ। ॥१६०-१६२॥

इति श्रीशक्तिगीतासूपनिपत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे महादेवीदेव- . सम्वादे कर्मविज्ञानयोगवर्णनं नाम पञ्चमोऽध्यायः ।

इस प्रकार श्रीशक्तिगीतोपनिषद् के ब्रह्मविद्यासम्बन्धी महादेवीदेव सम्वादात्मक योगशास्त्र का कर्मविज्ञानयोगवर्णन नामक पञ्चम अध्याय समाप्त हुआ।

॥ श्रीजगन्मात्रे नमः॥

# ॥ श्री शक्ति गीता ॥

## अथ षष्ठोऽध्याय : छठा अध्याय

### ज्ञानविज्ञानयोगवर्णनम्

देवा ऊचुः ॥१॥

देवतागण बोले ॥ १ ॥

के ज्ञानदे ! महामान्ये ! सर्वकर्ममनियामिके !
विश्वेश्वरि ! महादवि ! कर्मपाशविमोचिनि ! ॥२॥

रहस्यं कर्मणो गूढं तच्छक्तिं महतीं तथा।
अद्भुताऽलौकिकं कर्म-राज्यविस्तारमेव च ॥३॥

श्रावं श्रावं वयं सर्वे विस्मिताः स्मो न संशयः।
प्रतीयते जगन्मातः ! अत्यन्तं कर्म दुस्तरम् ॥४॥

हे विश्वेश्वरि ! हे महामान्ये! हे महादेवि! हे सर्वकर्मनियन्त्रि! हे कर्मपाश विमोचिनि ! हे ज्ञानदे ! कर्म का गूढ रहस्य और कर्म की अपारशक्ति और कर्मराज्य का अद्भुत और अलौकिक विस्तार सुन सुनकर हम निःसन्देह चमत्कृत हुए हैं। हे जगन्मातः! कर्म अतिदुस्तर प्रतीत होता है ॥२-४॥

ज्ञानं तत्तात्त्विकं देहि साम्प्रतं नो महेश्वरि।
कर्मपाशविनिर्मुक्ता वयं येन लभेमहि ॥५॥

भवत्याः सत्वरं नूनं गति सायुज्यनामिकाम् ।
तत्वज्ञाननदीष्णाताः कृतकृत्या भवेम च ॥६॥

हे महेश्वरि ! अब हमको वह तत्त्वज्ञान प्रदान कीजिये जिससे हम कर्मबन्धनसे मुक्त होकर अवश्य आप में शीघ्र सायुज्यगति को प्राप्त हो सकें और तत्त्वज्ञान में प्रवीण होकर कृतकृत्य हो जाएँ ॥५-६॥

महादेव्युवाच ॥७॥

महादेवी बोली ॥ ७॥

द्वैतरूपाऽहमेवास्मि देवाश्चाद्वैतरूपभाक ।
द्वैताद्वैतस्वरूपाभ्यां पृथग्भूताऽपि चाऽस्म्यहम् ॥८॥

हे देवतागण ! मैं ही द्वैत हूँ, मैं ही अद्वैत हूँ और मैं ही द्वैता द्वैत से रहित हूँ ॥८॥

सचिदानन्दभावो हि स्वरूपे मम संस्थितः ।
एकाऽद्वैतस्वरूपेण जानीतेति दिवौकसः ! ॥९॥

मेरे स्वस्वरूप में सच्चिदानन्द भाव एक अद्वैतरूप में स्थित है। हे देवतागण ! इस बात को जानो ॥९॥

अहमेव स्वकीयान्तु सत्तामानन्दसञ्ज्ञिकाम् ।
जगत्यां प्रकटीकर्तुं नानाकेन्द्रः पृथाग्विधैः ॥१०॥

सच्चिद्भावसुविस्तारैरेकाऽद्वैतस्वरूपतः ।
अतुलं द्वैतरूपं हि धरन्ती युगलात्मकम् ॥११॥

पुरुषप्रकृतीभूय देवाः ! आविर्भवाम्यहो।
नात्र कश्चन सन्देहो विद्यतेऽदितिनन्दनाः ! ॥१२॥

मैं ही पृथक् पृथक अनेक कन्द्रो से अपनी आनन्दसत्ता को जगत् में प्रकट करने के लिये सत् और चित् भावके विस्तार द्वारा एक अद्वैतरूप से युगलरूपी अनुपम द्वैतरूप को धारण करके पुरुष और प्रकृति रूप से प्रकट होती हूँ। हे देवतागण ! इसमें कुछसन्देह नहीं है॥१०-१२॥

ब्रह्मशक्तिश्च या माया ब्रह्मास्ते यनिरंजनम् ।
वस्तुतस्तु तयोरैक्यमेवास्ते विबुधर्षभाः ॥१३॥

वास्तव में हे देवता गण ! निरंजन ब्रह्म और ब्रह्मशक्तिमाया एक ही है॥१३॥

अहं स्वानन्दसत्तायाः प्रकाशायैव केवलम् ।
जगत्यां द्वैतरूपेऽपि प्रतिभासे न संशयः ॥१४॥

केवल मेरी आनन्दसत्ता प्रकट करने के लिये ही मैं द्वैतरूप में भी जगत् में निःसन्देह प्रतिभासित होती हूँ ॥१४॥

प्रभावादेव मायाया ब्रह्मण्याभासते जगत् ।
आभास: सोऽपि भो देवाः ! वर्ततेऽज्ञानमूलकः ॥१५॥

माया के प्रभाव से ही ब्रह्म में जगत का भान होता है,वह भान अज्ञानमूलक है ॥१५॥

विज्ञानतो विरुद्धोऽस्ति भेद एव हि निर्जराः।
ब्रह्मणस्तस्य शक्तेश्च सर्वथा सर्वदा यतः ॥१६॥

क्योंकि हे देवगण ! ब्रह्म और ब्रह्मशक्ति माया में भेद का होना ही सर्वथा सब काल में विज्ञानविरुद्ध है ॥१६॥

अहमानन्दविस्तारं विधातुं स्वमभावतः ।
अद्वैतसंचिदानन्दमयसत्तात एवं वै ॥१७॥

द्वे द्रश्यरूपे च यदा सत्ते प्रकाश्य हि।
ब्रह्ममायास्वरूपाभ्यां प्रतीयेऽहं दिवौकसः !॥१८॥

मैं जब आनन्दके विस्तार के लिये अपने ही प्रभाव से एक अद्वैत सच्चिदानन्दमय सत्ता से द्रष्टा और दृश्यरूपी दो सत्ता प्रकट करके माया और ब्रह्मरूप से हे देवतागण ! प्रतीत होती हूँ ॥१७-१८॥

क्षेत्रं मायास्वरूपेण बीजन्च ब्रह्मरूपतः ।
भूत्वैवाहं तदा देवाः ! प्रसुवे निखिलं जगवः ॥१९॥

उस समय हे देवतागण ! ब्रह्मरूप से बीज और मायारूप से क्षेत्र बन कर सकल जगत् प्रसव करती हूँ ॥१९॥

तस्मिन काले द्विधा माया भूत्वा नूनं दिवौकसः।
विद्याऽविद्यास्वरूपाभ्यां दे रूपे संविभर्त्यहो ॥२०॥

अविद्याज्ञानमयस्ति विद्या ज्ञानमयी तथा।
अविद्याऽज्ञानरूपत्वान्जीवान्कृत्वा स्वसादलम् ॥२१॥

सृष्टिस्थितिलयानाञ्च चक्रेप विनिपात्य तान् ।
नयते नितरां देवाः ! दशाम्बन्धनकारिणीम् ॥२२॥

उस समय माया द्विधा विभक्त होकर विद्याओं और अविद्या रूप से दो रूपों को अवश्य धारण करती है। विद्या ज्ञानमयी है और हे देवतागण अविद्या सर्वथा अज्ञानमयी होने से अविद्या जीवों को अपने वश करके उनको सृष्टि, स्थिति लय के चक्रमें डालकर बन्धन दशा को निरन्तर प्राप्त कराती है ॥२०-२२॥

यतो ज्ञानजनन्यस्ति विद्याऽनो नयते ध्रुवम् ।
सगुणब्रह्मरूपस्य द्रष्टृहि वश्यतां गता ॥२३॥

अज्ञानवागुराबद्धाञ्जीवान्मुक्तिपथं ध्रुवम् ।
परं बन्धदशा देवाः ! जीवानां वस्तुतस्त्वियम् ॥२४॥

असत्या केवलं मिथ्या-ज्ञानमूलसमाश्रिता ।
विद्यारूपञ्च मे जीवा उपास्य विधिवत्सुराः । ॥२५॥

प्राप्ता मामधिकुर्वन्ति कैवल्यपदमद्वयम् ।
सद्भावमाश्रयन्तो मे मद्भक्ताः क्रमशोऽमराः। ॥२६॥

अधिकृत्य पराभक्तिं विदित्वाऽद्वैतचिन्मयम् ।
मत्स्वरूपमशेषेण कृतकृत्या भवन्ति ते ॥२७॥

और ज्ञान जननी विद्या सगुण ब्रह्मरूपी द्रष्टा के अधीन रहकर अज्ञानपाश मे आबद्ध जीवों को मुक्तिमार्ग का पथ प्रदर्शन कराती है, परन्तु हे देवगण वास्तव में जीवों की यह बन्धनदशा असत् और केवल मिथ्या ज्ञान मूलक है। जीव विधिपूर्वक मेरे विद्यारूप की उपासना द्वारा मुझको प्राप्त होकर हे देवतागण ! अद्वितीय कैवल्य के अधिकारी हो जाते हैं। हे देवगण ! मेरे सत् भावोंको अवलम्बन करते हुए मेरे भक्तगण क्रमशः मेरी पराभक्ति के अधिकारी होकर मेरे अद्वितीय चिन्मय स्वरूपको भलीभांति जानकर वह कृतकृत्य होते हैं। ॥२३-२७॥

आविद्यावशमापन्ना जीवा विस्मृत्य मां हठात् ।
मायिके दृश्यजालेऽस्मिन् प्रसज्जन्ते विमोहिताः ॥२८॥

अविद्या के वशीभूत जीव मुझे एकाएक भूलकर मेरे मायिक इन दृश्यो में विमोहित हो कर फंसते हैं ॥२८॥

परन्तु तेषु जीवेषु शरणं मे गतेषु वै ।
अहं नानाप्रकारेस्तानाकर्षामि स्वसम्मुखे ॥२९॥

परन्तु मेरे शरण आने पर मैं नाना प्रकार से उनको अपनी ओर आकर्षित करलिया करती हूँ ॥२९॥

बहते मामकीनाऽत्र हेतुत्वं भक्तिरेव हि ।
अहमेवाक्षरं ब्रह्म स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ॥३०॥

तस्मादेकाऽद्वितीयोऽपि दृश्ये देवाः ! स्वमायया ।
ब्रह्मेश्वरविराडूप-भावेषु त्रिविधंप्वहम् ॥३१॥

मेरी भक्ति ही इसका कारण है। हे देवतागण ! मैं ही अक्षर ब्रह्म है। स्वभाव ही अध्यात्म कहाता है। उसी से मैं ही एक अद्वितीय होने पर भी अपनी माया से ब्रह्म ईश और विराट् रूपी त्रिविध भावों में, दिखाई देती हूँ। ॥३०-३१॥

आधिभूतः क्षरो भावः कम्मैवास्तस्य कारणम् ।
कर्म सम्प्रोच्यते भूत-भावोद्भवकरः किल ॥३२॥

विसर्ग एव भो देवाः ! कर्मव भवकारणम् ।
जीवान कर्माणि बध्नि तान्येव मोचयन्ति तान् ॥३३॥

अधिभूत रूप ही क्षरभाव है। कर्म ही उसका कारण है भूतभावोद्भवकर विसर्ग ही कर्म कहलाता है। हे देवगण कर्म ही जगत का कारण है। कर्म ही जीवों को बन्धन प्राप्त करता है और कर्म ही जीवों को मुक्त कर देता है। ॥३२-३३॥

मदादेशानुकूलं यत्कर्म शुद्धं तदीर्यते।
जीवेच्छाविहितं कर्म प्रोच्यतेऽशुद्धमेव तत् ॥३४॥

मेरी आशा के अनुकूल कर्म शुद्ध कर्म और जीव की इच्छा के अनुकूल कर्म अशुद्ध कर्म कह लाता है ॥३४॥

कारणं बन्धनस्यास्ति कर्माशुद्धं न संशयः ।
मुक्तेश्च कारणं देवाः ! शुद्ध कर्म्मेव वर्तते ॥३५॥

अशुद्ध कर्म निस्सन्देह बन्धन का हेतु और हे देवतागण ! शुद्ध कर्म ही मुक्ति का हेतु है ॥३५॥

वेदकाण्डत्रयस्यैतद्गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
रहस्यं वर्णितं देवाः ! भवद्भवः परमाद्भुतम् ॥ ३६॥

हे देवतागण! यही मैंने आपसे वेद के काण्डत्रय का परम अद्भुत रहस्य वर्णन किया है जो अतिगुह्य है ॥३६॥

अहमेकाऽद्वितीयाऽपि रूपं धृत्वाऽऽधिदैविकम् ।
पुरुषो वै स्वयम्भूत्वा स्वां शक्ति प्रकृति तथा ॥३७॥

निर्मायैव निमज्जामि शृङ्गारानन्दसागरे ।
ममाधिदेवरूपं हि मन्मायावशतः खलु ॥३८॥

पाप्याधियज्ञरूपं भोः सत्यं जानीत निर्जराः ।

प्रत्येकजीवपिण्डेषु कूटस्थ इति कथ्यते ॥३९॥

मैं एक अद्वितीय होने पर भी अधिदैव रूप को धारण करके स्वयं पुरुष बनती हूँ और अपनी शक्ति को प्रकृति बनाकर श्रृंगार के आनन्दसागर में मग्न होती हूँ । मेरा अधिदैव रूप ही मेरी माया से अधियज्ञरूप प्राप्त होकर प्रत्येक जीवपिण्ड में कूटस्थ कहलाता है । हे देवतागण ! इसको सत्य जानें ॥३७-३९॥

पुनः शरीररूपेण ह्यहमेव दिवौकसः ।
नारीपुरुषयोर्देहौ सृष्टिमध्ये च विभ्रती ॥४०॥

नारीधारां नृधाराश्च वितनोमि यथाक्रमम् ।
देवाः ! तासान्तु धाराणां,लयकाले शुभे ध्रुवम् ॥४१॥

लयं याति नरे नारी कूटस्थे चैव पूरुषः ।
ईश्वरे चापि कूटस्थो विलीय लभते च माम् ॥४२॥

हे देवगण ! पुनःशरीर रूप से मैं ही पुरुषदेह और स्त्री देह धारण करके सृष्टि में पुरुषधारा और स्त्रीधारा का विस्तार करती हूँ । हे देवगण ! उन धाराओं को लय करते समय यथाक्रम स्त्री पुरुष में लय होती है, पुरुष कूटस्थ में और कूटस्थ ईश्वर में लय होकर मुझको ही प्राप्त होता है ॥४०-४२॥

यतोऽस्मि निर्गुणं ब्रह्म सगुणेशात्मिकाऽप्यहम् ।
साधको योगयुक्तात्मा यदा योगाब्धिपारगः ॥४३॥

प्रकृतेः पुरुषस्यापि भेदं ज्ञात्वा सुनिश्चितम् ।
तत्त्वज्ञानमवाप्नोति तदाऽविद्या कथञ्चन ॥४४॥

नासञ्जयितुमीष्टे त महामोहमहार्णवे ।
पश्चादनन्यभक्तिं हि विधाय मयि योगविद ॥४५॥

जीवन्मुक्तिपदं शान्तं तत्त्वज्ञो लभते ध्रुवम् ।
आत्मज्ञानं विशुद्धञ्च तदाऽसावधिगच्छति ॥४६॥

क्योंकि मैं ही निर्गुण ब्रह्म और मैं ही ईश्वर रूपी सगुण ब्रह्म हूँ। जब योगयुक्त होकर योग समुद्र का पारगामी योगी साधक प्रकृति और पुरुष के भेद को निश्चय रूप से जानकर तत्त्वज्ञानी बन जाता है तब अविद्या उसको महामोह रूपी महासमुद्र में किसी प्रकार डुबा नहीं सकी। उसके अनन्तर मुझमें अनन्य भक्ति करके तत्वज्ञानी योगी शान्तियुक्त जीवन्मुक्त पदवी को निश्चय प्राप्त कर लेता है। तब वह शुद्ध आत्मज्ञान को प्राप्त करता है ॥४३-४६॥

स्यात्तत्त्वज्ञानमेवालमात्मज्ञानस्य कारणम् ।
ज्ञानी मद्भक्त एवैतामवस्थां देवदुर्लभाम ॥४७॥

सर्वथा सर्वदा देवा लब्धुमीष्टे न संशयः।
त्रिगुणात्मकभक्ता मे आर्ता जिज्ञासवस्तथा ॥४८॥

अर्थार्थिनः सुपर्वाणः ! परमानन्दचिन्मयम ।
स्वरूपं शक्नुवन्तीह नैव ज्ञातुं यथार्थतः ॥४९॥

तत्त्वज्ञान ही आत्मज्ञान का कारण है। मेरा ज्ञानी भक्त ही इन दैव दुर्लभ दशाओं को सर्वथा सब कालों में प्राप्त कर सकता है, इसमें सन्देह नहीं है । हे देवतागण! मेरे त्रिगुणात्मक भक्त आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थीगण मेरे परम आनन्दमय चिन्मय स्वरुप को ठीक ठीक जान नहीं सकते हैं। ॥ ४७- ४९ ॥

मत्स्वरूपानुमानं ते कृत्वाऽज्ञात्वा यथार्थतः।
मां बदन्ति निमित्ताख्यां जगत की कुलालवत् ॥५०॥

वह मेरे रूप का अनुमान करके यथार्थ नहीं जानकर मुझे घड़े के साथ कुम्हार के उदाहरण के समान जगत की निमित्तकारण बताते हैं ॥५०॥

स्थूल एव प्रसक्तैषां बुद्धिर्भवाथ गन्त्रिता।
आनन्दाभासमेवैषा ध्रुवम्मेऽनुभवेत् स्वतः ॥५१॥

स्थूल में ही उनकी बुद्धि फंस कर, भ्रामित होकर, मेरे आभास आनन्द का स्वतः अनुभव निश्चय करने लगती है ॥५१॥

स्थूलायाः प्रकृतेश्चैव परमाण्वादिकां मम ।
सत्तां नित्यां विदित्वाथ ते स्थूले रूप एव में । ॥५२॥

स्वं ध्येयं वै स्थिरीकृत्य मदुपास्ति प्रकुर्वते ।
अज्ञातेऽपि यथातथ्यं मत्स्वरूपे दिवौकसः ! ॥५३॥

सर्वशक्तिविशिष्टां मां विदिला दृढभक्तित।
स्ववासनानुरूपं हि फलमासादयन्ति ते ॥५४॥

मेरी स्थूल प्रकृति की परमाणु आदि सत्ता को भी वह नित्य समझकर मेरे स्थूल रूप में ही वह अपना ध्येय स्थिर करके मेरी उपासना करते हैं। हे देवतागण! उनको मेरे यथार्थ स्वरूप का ज्ञान न होने पर भी वह मुझे सर्व शक्ति विशिष्ट जानकर मुझमें दृढ़भक्ति के कारण अपनी अपनी वासना के अनुसार ही फल को प्राप्त करते हैं ॥५२-५४॥

अस्यामेव दशायाञ्च मद्भक्तयाऽनन्ययाऽन्विताः।
उर्ध्वम गच्छन्ति मद्भक्ता षष्ठलोकावधि ध्रुवम् ॥५५॥

और इसी दशा में मेरे भक्त मुझ में अनन्यभक्ति युक्त होकर षष्ठलोक तक अवश्य पहुंच जाते हैं ॥५५॥

तत्र मे सगुण रूपैः सहैव शाश्वतीः समाः।
प्राप्य सालोक्य-सामीप्य-सारुप्यात्मदशात्रयम् ॥५६॥

निमज्जन्तोऽवतिष्ठन्ते परमानन्दसागरे।
विभ्रतस्ते ततो देवाः ! शक्ति मे देवदुर्लभाम् ॥५७॥

मद्विभूतिसमायुक्ता विश्वकल्याणहेतवे।
जन्मानन्तेषु केन्द्रेषु ते गृह्णन्ति महीतले ॥५८॥

वहां मेरे सगुणरूप के साथ सारुण्य, सामीप्य, सालोक्य दशाओं को प्राप्त करके अनन्त काल तक मेरे परमानन्द सागर में निमजन करते रहते हैं और हे देवगण ! तदनन्तर मेरी- देव दुर्लभ शक्ति को धारण करके जगत कल्याणार्थ मेरी विभूतियों से मुक्त होकर पृथिवी पर अनन्त केन्द्रों में जन्म ग्रहण करते हैं। ॥५६-५८॥

ततश्च क्रमशो देवाः ! कैवल्यपदमाप्नुयुः ।
सगुणे युगले रूपे दर्शनं मे प्रकुर्वने ॥५९॥

पूर्व मे ज्ञानिनो भक्ता माश्च मत्मकृति ततः।
ते मन्येवानुपश्यन्ति पृथक्त्वेन मुरोत्तमाः ! ॥६०॥

निष्कामा मत्पराभक्तिं प्राप्नुवन्तस्ततो मयि ।
इत्थं तन्मयतां यान्ति नूनं कल्याणवाहिनीम् ॥६१॥

उसके बाद हे देवगण ! क्रमशः कैवल्य पद को प्राप्त कर लेते हैं और मेरे ज्ञानी भक्त प्रथम मेरे युगल सगुणरूप में मुझ को दर्शन करते है तब वह मुझ में ही मेरी प्रकृति और मुझको अलग अलग देखते हैं, तदनन्तर मुझमें निष्काम पराभक्ति को प्राप्त करके इस प्रकार से मुझमें कल्याणदायिनी तन्मयता को अवश्य प्राप्त करते हैं ॥५९-६१॥

यथा सर्वोत्तमे देवाः ! दाम्पत्यप्रेमसागरे ।
निमज्जन्तौ च यच्छन्तौ पूर्णतां दम्पती मिथः ॥६२॥

हेतू स्यातां मियो मुक्तेर्भावमद्वैतमागतौ ।

अनन्यप्रेमसंयुक्ता ज्ञानिभक्तास्तथैव मे ॥६३॥

आत्मानं प्रकृति मत्वा ज्ञात्वा मां पुरुष तथा ।
पूर्व ते मे निमज्जन्ते परमानन्दसागरे ॥६४॥

मां संस्थाप्य प्रपद्यन्त अद्वैतत्वं ततो मयि ।
गूढं भक्तिरहस्यं मे श्रूयतां निर्जराः ! पुनः ॥६५॥

हे देवतागण ! जिस प्रकार सर्वोत्तम दाम्पत्यप्रेम-सागर में निमग्न पति और स्त्री एक दूसरे को पूर्णता प्रदान करते हुए अद्वैत भाव को प्राप्त होकर एक दूसरे की मुक्ति का कारण हो जाते हैं। उसी प्रकार मेरे ज्ञानी भक्त मुझमें अनन्य प्रेमयुक्त होकर पहले अपने को प्रकृति बनाकर और मुझको पुरुष समझकर परमानन्दसागर में निमग्न होते और अन्त में मुझमें अद्वैतभाव स्थापित करके मुझको प्रात होते हैं। हे देवतागण ! मेरी भक्ति का गूढ रहस्य और सुनिये ॥६२-६५॥

दाम्पत्यप्रेमषाथोधौ पूर्व श्रेष्ठे निमग्नयोः।
दम्पत्योहि यथा जाया पुरुषत्वं प्रपद्यते ॥६६॥

पतिश्च ब्रह्मसायुज्यं देवाः ! प्राप्नोत्यसंशयम् ।
प्रथमायामवस्थायां ज्ञानिभक्तास्तथैव मे ॥६७॥

स्वत्वं मत्मकृतौ लीनं कुर्वते सर्वथा सुराः ।
ततो मत्मकृतौ लीनास्त्यक्तस्वत्वाः सुखावहाः ॥६८॥

आध्यात्मिकैर्मया सार्द्धं ते श्रृंगारैः समन्विताः।

परमानन्दमन्दोहानुभत्रं किल कुर्वते ॥६९॥

मत्मकृत्या सहैवान्ते सन्निविश्य स्वयं माये ।
मामेवैते प्रपद्यन्ते पराभक्तिपरायणाः ॥७०॥

जिस प्रकार उत्तम दाम्पत्य प्रेम सागर में निमग्न दम्पती में से प्रथम स्त्री पुरुषभाव को प्राप्त करती है और पुरुष निस्सन्देह ब्रह्मसायुज्य को प्राप्त करता है उसी प्रकार हे देवतागण ! मेरे ज्ञानी भक्त पहली दशा में अपने को मेरी प्रकृति में सर्वथा लय करते हैं और मेरी प्रकृति में लय होकर अपना स्वत्व छोड़कर सुखी होते हुए वे मेरे साथ अध्यात्म-श्रृंगार से युक्त होकर मेरे परमानन्दसागर का अनुभव करते हैं और अन्त में वह पराभक्तिपरायण मेरी प्रकृति सहित मुझमें स्वयं मिलकर मुझको ही प्राप्त होते हैं। ॥ ६६-७०॥

एतामेव दशां नाम्ना कैवल्यं श्रुतयो जगुः।
एषैव मे पराकाष्टा पराभक्तेरुदाहता ॥७१॥

आत्मज्ञानस्य बोद्धव्यमेतचैवान्तिम फलम् ।
वैधीभक्तेर्यदा देवाः ! मद्भक्ता अधिकारिणः ॥७२॥

लब्ध्वा मां गुरुरूपेण तदाज्ञावशवर्तिनः ।
नवधा सम्बिभक्तासु श्रवणादिपु भक्तिषु ॥ ७३ ॥

रता नित्यमसत्कर्म त्यक्तुं सत्कर्तुमुद्यताः ।
धर्माधर्म्ममभेदश्च श्रुत्वा पूज्यगुरोर्मुखात् ॥ ७४ ॥

सर्वदाऽधर्मामुत्सृष्टुं धर्म पालयितुं तथा ।
जायन्ते तत्परा भूयस्तदा नाधः पतन्ति ते ॥७५॥

इसी दशा को वेदों ने कैवल्य करके वर्णन किया है। यही मेरी पराभक्ति की पराकाष्ठा है और यहीआत्माज्ञान का चरम फल जानना चाहिये। हे देवगण मेरे भक्तगण जब वैधी भक्ति के अधिकारी होते हैं तब मुझे गुरु रूप से प्राप्त करके उन की आज्ञा के अधीन रहकर श्रवण, कीर्तन, वन्दनादि नवधाभक्ति में रत होकर असत् कर्म का नित्य त्याग करते हुए सदा सत्कर्म अनुष्ठान में प्रवृत्त होते हैं और परमपूज्य गुरु के मुखकमल से धर्म और अधर्म का भेद सुनकर सदा अधर्म के त्याग और धर्म के पालन, करने मे तत्पर होते हैं तब वे पुनः अध:पतित नहीं होते ॥ ७१-७५ ॥

द्वारं तेभ्योऽवरुद्धं स्यान्नरकमेतलोकयोः ।
लभन्ते ते तदा भूयो भूयः स्वर्गमुखं मुखम् ॥७६॥

उनके लिये प्रेतलोक और नरकलोक का द्वार बन्द हो जाता है और तब वह बारबार स्वर्गसुख को अनायास प्राप्त करते रहते हैं ॥७६॥

धर्मानुष्ठानतो भक्ता यदा स्युर्विमलाशयाः।
तप उग्रं चोग्रदानं कुर्वन्तोऽप्युग्रमध्वरम् ॥७७॥

मय्येव केवलं भक्ति-युक्तास्तिष्ठन्त आसते।
मत्पराश्चावतिष्ठन्ते त्यक्तलौकिकवासनाः ॥७८॥

तापसा उग्रकर्माणो भक्ता एवम्विधा मम ।
स्वतपोभक्तिप्राबल्याल्लोकमासाद्य सप्तमम् ॥७९॥

परानन्दानुभूतिश्च कुर्वाणा नितरामिमे ।
यस्मान्न पुनरावृत्तिर्लमन्ते तत्पदं सुराः ॥८०॥

हे देवगण ! जब भक्तों का चित्त धर्माचरण के द्वारा मलरहित हो जाता है और वह उग्रदान, उग्रतप और उग्रयाग यज्ञ आदि करते हुए भी केवल मुझ ही में भक्तियुक्त होकर लौकिक वासनाओं से अपने अन्तःकरण को रहित करके मत्परायण होते हैं, ऐसे उनका मेरे तपस्वी भक्तगण अपने तप और भकि के प्रभाव से सप्तमलोक में पहुंचकर परमानन्द का अनुभव निरन्तर करते हुए अपुनरावृत्तिपद को प्राप्त करते हैं ॥७७-८०॥

सर्यमण्डलमुद्भिद्य युञ्जते मामसंशयम् ।
दुशछेदं गहनधास्ते निर्जराः ! कर्मबन्धनम् ॥८१॥

वह निःसंदेह सूर्य्यमण्डल-भेदनपूर्वक मुझमें युक्त हो जाते हैं। हे देवतागण ! कर्मबन्धन गहन और दुश्छेद्य है ॥८१॥

ज्ञानिनो योगनिष्णाता मद्भक्ता एव केवलम्।
क्षिप्रं ज्ञानासिना छित्त्वा तन्मोक्षं प्राप्तुमीशते ॥८२॥

केवल योगनिष्णात मेरे ज्ञानी भक्तगण ही उसको ज्ञान कृपाण से शीघ्र छेदन करके मुक्तिपद को प्राप्त कर सकते हैं। ॥८२॥

दुर्दमा कर्मणः शक्तिस्त्रिधाऽऽवनाति प्राणिनः।
तत्मकारत्रयं नूनं देवाः ! वेदेषु वर्तते ॥८३॥

ख्यातं संचितप्रारब्धक्रियमाणाभिधैर्ननु ।
यत्क्षणासंसृतावादौ जीवैर्जीवत्वमाप्यते ॥८४॥

तावन्तं कालमारभ्य संस्कारा जैवकर्मणः ।
यावन्तः सम्भगृह्यन्ते सञ्चितं कर्म ताजगुः ॥८५॥

कर्म की दुर्दमनीय शक्ति तीन प्रकार से जीवों को आबद्ध करती है, उन प्रकारों का नाम वेदों में ही हे देवतागण ! सञ्चित, प्रारब्ध, और क्रियमाण नाम से विख्यात है। संसारमें प्रथम जीवों को जीवत्व प्राप्ति जब से हुई है तबसे जिन जैवकर्मों का संस्कार उन्होंने संग्रह किया है वह सब संचित कहलाते हैं ॥८३-८५॥

ये फलोन्मुखसंस्कारा जात्यायुर्भोगरूपकम् ।
तथा जीवप्रकृत्यादि फलं दातुं मुहुर्मुहुः ॥८६॥

जनयन्ते वपुः स्थूलं तान प्रारब्ध प्रचक्षते।
स्थूलदेहान्विता जीवा नैजीं जैवी हि वासनाम् ॥८७॥

सन्तृप्त्या सफलां कर्तुं नूतनं कर्म कुर्वते ।
तत्त्वज्ञानविनिष्णातैः क्रियमाणं तदुच्यते ॥८८॥

जो फलोन्मुख संस्कार जाति, आयु, भोग और जीवप्रकृति आदि फल बारम्बार देने के लिये स्थूल शरीर उत्पन्न करता है वह प्रारब्ध कहाता है और जीव स्थूल शरीर से युक्त होकर अपनी जैवी वासना की तृप्तिके लिये जो नवीन कर्म करता है तत्त्वज्ञानी उसको क्रियमाण कहते है ॥८६-८८॥

संस्कारैः क्रियमाणैस्तैः सञ्चिते परिणम्यते ।
क्रियमाणोऽपि संस्कारोऽत्यन्तमुग्रः कदाचन ॥८९॥

युष्मदादेशतो देवाः ! प्रारब्धीभय सत्वरम् ।
सद्य एव फलं सूते नास्ति कोऽप्यत्र संशयः ॥९०॥

क्रियमाण संस्कार सञ्चित में परिणत होते हैं और हे देवतागण ! कभी अति उग्र क्रियमाण संस्कार तुमलोगो की आज्ञा से प्रारब्धयुक्त भी होकर सद्यः फल उत्पन्न करते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं ॥८९-९०॥

दयाष्टिश्च मे लब्ध्वा मद्भक्तास्तत्त्वचिन्तकाः।
योगयुजानचेतस्का मत्सेवायां परायणाः ॥९१॥

अदृष्टं दृष्टसंस्कारे दृष्टञ्चादृष्टसंज्ञके।
परिवर्त्य सुपर्वाणः ! गति प्रारब्धकर्मणः ॥९२॥

परिवर्तयितुं नूनं क्षमन्ते खलु साधकाः।
किन्तु साध्यं न सर्वोषामेतत् कार्यमलौकिकम् ॥९३॥

मेरे तत्त्वचिन्तक योगीसाधक भक्तगण भी मेरी कृपा से मत्सेवापरायण होकर अदृष्ट संस्कार को दृष्ट संस्कार में और दृष्ट संस्कार को अदृष्ट संस्कार में परिवर्तन करके प्रारब्ध कर्म की गति मे भी परिवर्तन कर सकते हैं। परन्तु हे देवतागण ! यह अलौकिक कार्य सबके करने योग्य नहीं है ॥९१- ९३॥

सन्ति मे ये परा भक्ताः कृपादृष्टेममैव ते ।
कर्तुमेवम्विधं कर्म शक्नुवन्तीह केवलम् ॥९४॥

मेरे परम भक्तगण मेरी ही कृपा से ऐसा कर्म करने में केवल समर्थ हो सकते हैं ॥९४॥

उक्तकर्मत्रयस्यैव फलं जीवगणैरिह।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कस्तद्वारयितुं क्षमः ॥९५॥

उक्त तीनों प्रकार के कर्म का ही फल जीव को अवश्य भोगना होता है उसको कौन हटा सकता है॥९५॥

एषा प्रतिक्षणं देवाः ! कर्मत्रैविष्यवागुरा।
बधन्त्यास्तेऽखिलासीवाद युष्मान दैत्यांश्च मानवान् ॥९६॥

हे देवगण ! यह तीनों प्रकार की कर्मरजु प्रतिक्षण आपलोग, दानव तथा मनुष्य, सब जीवों को बांधे रहती है ॥९६॥

ज्ञानिभक्तगणा एव केवलं मामका अहो ।

तत्त्वज्ञानासिना छित्त्वा कर्मारज्जुत्रयं दृढम् ॥९७॥

मञ्चितायभिधं क्षिप्रं विमुच्यन्ते त्रितापतः।
क्रियमाणाभिध कर्म कर्मयज्ञस्य पावके ॥९८॥

आहुतिर्जायते देवाः ! निःशेष नात्र संशयः।
तथैवोपासनायज्ञ-वह्नौ पारब्धसंस्कृतिः ॥९९॥

भूत्वा शुद्धाऽपनोदद्याशु भक्ततापत्रयं हठात् ।
परमानन्दसन्दोह-प्रदा सम्पद्यते ध्रुवम् ॥१००॥

केवल मेरे ज्ञानी भक्तगण ही इन तीनों सञ्चित आदि दृढ़ कर्मरज्जुओं को मेरे तत्त्व ज्ञान रुपी कृपाण से काटकर शीघ्र त्रितापमुक्त हो जाते हैं । हे देवगण! कर्मयज्ञ की अग्नि में क्रियमाण कर्म निःशेष अहुति हो जाते हैं इसमें संदेह नहीं है; उसी तरह उपासनायज्ञ की अग्नि में प्रारब्ध संस्कार परिशुद्ध होकर मेरे भक्त का त्रिताप एकाएक शीघ्र दूर करके निश्चय ही परमानन्दप्रद हो जाते हैं॥९७- १००॥

ज्ञानयज्ञाग्नितेजोभिः सञ्चिताः कर्माराशयः ।
भस्मीभवन्ति भो देवाः ! पूर्णास्तूर्णमशेषतः ॥१०१॥

और है देवगण ! ज्ञानयग्य रूपी अग्नि के तेज से सम्पूर्ण सञ्चित कर्म राशि शीघ्र निःशेष भस्मीभूत हो जाती हैं। ॥१०१॥

निष्कामाः कर्मयोगेन ज्ञानिभक्तगणा मम ।
क्रियमाणाभिधं कर्म विजयन्ते सुरर्षभाः ! ॥१०२॥

हे देवतागण ! कर्मयोग के द्वारा निष्काम होकर मेरे ज्ञानी भक्तगण क्रियमाण कर्म को जय कर लेते हैं ॥१०२॥

तत्त्वज्ञानप्रपूर्णत्वं सम्प्राप्य ज्ञानिनो यदा ।
लभन्ते ब्रह्मसायुज्यं सञ्चिताख्यः स्वयं तदा ॥१०३॥

कर्म्मोघस्तान्विहायाशु ब्रह्माण्डप्रकृति श्रयेत् ।
अनन्यप्रेमसञ्जुष्टां ज्ञानिभक्तास्तदा माये ॥१०४॥

आस्वादयन्तः परमानन्दसन्दोहसन्ततिम्।
विज्यन्ते द्रुतं देवाः प्रारब्धं कर्म निश्चितम् ॥१०५॥

और तत्त्वज्ञान की पूर्णता प्राप्त करके जब वह ब्रह्म सायुज्य को प्राप्त करते हैं तो आप ही सञ्चित कर्मसमूह उनको छोड़ कर ब्रह्माण्ड प्रकृति का शीघ्र आश्रय करते हैं। उस समय हे देव गण ! ज्ञानी भक्त मुझ में अनन्य प्रेमयुक्त होकर परमानन्द समूह का आस्वादन करते हुए शीघ्र ही प्रारब्ध कर्म को निश्चय ही जय कर लेते हैं ॥१०३-१०५॥

इत्थं मे ज्ञानिनो भक्ताः शरीरे सत्यपि स्थिरे ।
बुद्धीन्द्रियमनोवाग्भिर्मल्लीना ज्ञानयोगतः ॥१०६॥

जीवन्मुक्तिपदं देवाः ! लभन्ते देवदुर्लभम्।
वारिविन्दुर्यथा नूनमतलस्पर्शसागरे ॥१०७॥

आकाशात्पतितो भूत्वा तद्गर्भे सम् लीयते ।

शरीरान्ते तथैवैते जीवन्मुक्ता हि साधवः ॥१०८॥

मय्येव प्रविलीयन्से ज्ञाननिर्धूतकल्मषा।
कर्मावलम्बनेनैव विमुक्तेः कर्मबन्धनात् ॥१०९॥

य आस्ते सुगमोपायः पुरो वो वर्णितश्च यः।
तस्यास्ति प्रथमं द्वारं सदाचार मुरोत्तमाः ॥११०॥

हे देवतागण ! इस प्रकार से मेरे ज्ञानी भक्त शरीर रहते हुए भी बुद्धि, इन्द्रिय, मन और वाणी से ज्ञानयोग के द्वारा मुझ में लीन होकर जीवन्मुक्ति रूपी देवदुर्लभ पदवी को प्राप्त कर लेते हैं और वह जीवन्मुक्त रुपी साधु ज्ञान के द्वारा पापों से मुक्त होकर होकर शरीरान्त में आकाशपतित वारिविन्दु के अतलस्पर्श समुद्रगर्भ में गिरने के समान मुझमें मिल जाते हैं। हे देवतागण ! कर्म के अवलम्बन से कर्म के बन्धनसे मुक्त होने का जो सुगम उपाय है जिसका वर्णन आप लोगों के सामने किया था, सदाचार उसका प्रथम द्वार है॥१०६-११०॥

स्थूलं देहञ्च मद्भक्ताः सदाचारस्य सेवया।
पुनन्तो वर्द्धयन्ते हि.गुणम्बै सात्त्विकं त्वलम् ॥१११॥

सदाचार के पालन से मेरे भक्त स्थूल शरीर को पवित्र करके सत्त्वगुण की वृद्धि भलीभांति करते हैं ॥१११॥

यथाधिकारं धर्मस्य विशेपस्याऽथ सेवया ।

चित्तं सत्त्वमयं कर्तुं क्षमन्ते धौतकल्मषाः ॥११२॥

तदनन्तर अपने अपने अधिकार के अनुसार विशेष धर्मों के पालन द्वारा विधूतकल्मषं होकर अन्तःकरणको सत्त्वगुणमय बनाने में समर्थ होते हैं ॥११२॥

ततो भवन्ति मे भक्तास्तत्त्वज्ञानाधिकारिणः।
अहमेव निजान भक्तान पुनन्ती क्रमशोऽमराः ॥११३॥

अध्यात्मिशक्तयाऽऽकर्षामि तांश्च स्वाभिमुखं स्वतः ।
मत्सनातनधर्मस्य या शक्तिवगामिनी ॥११४॥

भक्तान्मन्निकटं नेतुं साहाय्यं विदधाति सा।
मत्परायणचेतस्कैः स्वधर्मप्रवणैरतः ॥११५ ॥

भूयतां येन मुक्तिः स्यादयुष्माकं कर्मवन्धनात् ।
तत्त्वज्ञानाप्तये पूर्व मद्भक्ता ननु कुर्वते ॥११६॥

विवेकेनैव तत्त्वानां प्रकृतेः परिदर्शनम ।
विस्मयावसरो नास्ति कोऽप्यत्रादितिनन्दनाः ! ॥११७॥

उसके अनन्तर मेरे भक्त तत्वज्ञान के अधिकारी बनते हैं । इस प्रकार से मैं अपने भक्तों को क्रमशः पवित्र करती हुई अपनी अध्यात्म शक्ति से उनको अपनी ओर आकृष्ट करती हूँ और सनातन धर्म की उर्द्धव गामिनी शक्ति उनको मेरी ओर पहुंचाने में सहायता करती है, इस कारण हे देवतागण ! आपलोग स्वधर्मानुरत और मत्परोयण चित्त

बनो जिससे आपलोगों की कर्मबन्धन से मुक्ति होगी। तत्त्वज्ञान को प्राप्त करने के लिये सबसे प्रथम मेरे भक्तगण तत्त्वविचार द्वारा मेरी प्रकृति का दर्शन किया करते हैं। हे देवतागण ! इसमे आश्चर्य का कोई अवसर नहीं है ॥११३-११७॥

प्रकृतेमें किलाङ्गानि चतुर्विंशतिरासते।
तत्वानि तानि कश्यन्ते शास्त्रेषु-त्रिदिवौकसः ! ॥११८॥

हे देवगण ! मेरी प्रकृति के चौबीस ही अंग हैं वह शास्त्रों में तत्व कहलाते हैं ॥११८॥

क्षित्यप्तेजोमीरूदव्योमनामकं भूतपञ्चकम् ।
अस्त्यपञ्चीकृतं मूक्ष्मं स्यूलं पञ्चीकृतश्च तत् ॥११९॥

क्षिति, अप्, तेज, मरुत् और आकाश, ये पांच अपञ्चीकृत सूक्ष्मभूत हैं। इनके पंचीकरण से पंचीकृत स्थूलभूत बनते हैं ॥११९॥

दशधैवं सुपर्वाणः ! भूतग्रामः प्रकीर्त्यते ।
मम त्रैगुण्यमय्याञ्च प्रकृतेः प्राकृतस्य तु ॥१२०॥

साहाय्यात्परिणामस्य भूतानां पञ्चकात्सुराः !।
पञ्च ज्ञानेन्द्रियाण्यवं पञ्चकम्मन्द्रियाण्यहो ॥१२१॥

प्रादुर्भवन्त्यमून्येवमिन्द्रियाणि दशैव तु ।
तथान्तःकरणस्यापि चतुर्भेदैर्युतान्यहो ॥१२२॥

स्थूलसूक्ष्माणि भूतानि व्याहृतानि दिवौकसः !।
ज्ञानकर्मेन्द्रियाण्येवं मिलित्वा निखिलानि वै ॥१२३॥

चतुर्विंशतितत्त्वानि जायन्तेऽदितिनन्दनाः !
पूर्ण ज्ञानश्च तत्त्वानां सर्वथा स्याच्छिवप्रदम् ॥१२४॥

हे देवगण ! यही दशविध भूत कहाते हैं। मेरी त्रिगुणमयी प्रकृति के स्वाभाविक परिणाम की सहायता से पंचभूतों के द्वारा पांच कर्मेन्द्रिय और पांच ज्ञानेन्द्रिय प्रकट होते हैं, इस प्रकार से यह ही दशविध इन्द्रियां कहाती है। देवगण! स्थूलसूक्ष्म भूत, पंच ज्ञानेन्द्रिय पंच कर्ममेंद्रिय और अन्तःकरण चतुष्ट, यह सब मिलकर चौबीस तत्त्व होते हैं, इनका ज्ञान सर्वथा मङ्गलकर है ॥१२०-१२४॥

आस्तेऽलमन्तःकरण-चतुष्टय इह स्वतः ।
चित्तस्य मनसा सार्द्ध सम्बन्धः प्रबलो महान् ॥१२५॥

तथाऽहङ्कारसम्बन्धः सार्द्ध बुद्धयैव विद्यते।
आद्या में प्रकृतिभिन्ना विद्या विद्यास्वरूपतः ॥१२६॥

मनस्येवास्ति भो देवाः ! अविद्यानिलयस्तयोः।
आविर्भवेत्तथा विद्या बुद्धावेव न संशयः ॥१२७॥

अन्तःकरण चतुष्टय में से चित्त का अत्यन्त प्रवल सम्बन्ध मन के साथ और अहङ्कार का सम्बन्ध बुद्धि ही साथ स्वतः है । हे देवगण ! मेरी आद्या प्रकृति के जो विद्या और अविद्यारूप से दो भेद हैं उनमें से

अविद्या का निलय मन में ही है और विद्या का अविर्भाव बुद्धि में ही हुआ करता है, इसमें संदेह नहीं ॥१२५-१२७॥

अविद्यामोहिता अस्माज्जीवाः संसारजालके।
मनोनिघ्ना: प्रसज्जन्ते दृढ़ पीयूषपायिनः ! ॥१२८॥

इसी कारण हे देवतागण ! अविद्या मोहित जीवगण मन के अधीन रहकर संसारजाल में अत्यन्त फंसे रहते हैं ॥१२८॥

विद्यासाहाय्यतो नून मद्भक्ता बुद्धिसेविताः ।
कर्मवन्धाद्विमुच्यन्तेऽनेकग्रन्थिदृढीकृतात् ॥१२९॥

और मेरे भक्तगण बुद्धिसेवित होकर विद्या की सहायता से अनेक प्रन्थियों से दृढ़ कर्मबन्धन से अवश्य मुक्त हो जाते हैं ॥१२९॥

जीदप्रर्यदाऽविद्या जनयेत्स्वप्रभावतः।
चिज्जडग्रन्थिमेतद्धि वपुः कारणंमुच्यते ॥१३०॥

जीव प्रसविनी अविद्या जब अपने प्रभाव से चिज्जडग्रन्थि उत्पन्न करती है। वही कारणशरीर कहाता है ॥१३०॥

स्थूलैश्च पञ्चभिभूतैः स्थूलं निर्मीयते वपुः।
परिशिष्टैस्तत्त्वजातैः सूक्ष्मो देहः प्रजायते ॥१३१॥

पंच स्थूल भूत का स्थूलशरीर निर्मित है और बाकी सब तत्त्वों से सूक्ष्म शरीर उत्पन्न होता है ॥१३१॥

एतद्देहत्रयस्यैव देवाः ! आवरणान्मम ।
स्वरूपं न प्रकाशेत शुद्ध नित्यमपि स्वयम् ॥१३२॥

इन्हीं तीन शरीरो के आवरण से हे देवगण! मेरे शुद्ध नित्य स्वरूप का भी प्रकाश स्वयं नहीं होता ॥१३२॥

एतदेवास्ति वेदेषु वर्णितञ्च कचित्कचित।
पञ्चकोंषाभिधानेन देवाः ! आवरणं ननु ॥१३३॥

हे देवगण ! इन्हीं आवरणों का वेदों ने कहीं कहीं पञ्चकोष करके भी वर्णन किया है। ॥१३३॥

पञ्चभ्यः स्थूलभूतेभ्यः कोषो ह्यन्नमयो भवेत् ।
कोपादन्नमयादेव स्थूलमुत्पद्यते वषुः ॥१३४॥

केवलोऽन्नमयः कोषः पतेन्मृत्युक्षणे सुराः ।
कोषस्यान्नमयस्यैव निरीक्ष्य परिवर्तनम् ॥१३५॥

पञ्च स्थूल भूतो से अन्नमय कोष उत्पन्न होता है, अन्नमयकोष से ही स्थूलशरीर बनता है ॥१३४॥

अज्ञास्तं जीववर्गस्य मृत्युमाहुर्विनाशकम् ।

मिलिताः पञ्च माणा मे सूक्ष्मशक्तिस्वरूपिणः॥१३६॥

पञ्चकर्मेन्द्रियैः सार्द्धं कोषः प्राणमयो भवेत् ।
असावेव सुपर्वाणः ! कोषः प्राणमयो महान् ॥१३७॥

युष्माकं खलु लोकस्य सम्बन्धं मृत्युलोकतः ।
अवस्थापयते नूनं द्वयोर्हि स्थूलसूक्ष्मयोः ॥१३८॥

मिलित्वा मनसा सार्द्धं पञ्च ज्ञानेन्द्रियाण्यहो।
नान्ना मनोमयं कोषं जनयन्तेतरां सुराः!॥१३९॥

हे देवगण ! मृत्युकाल में केवल अन्नमय कोष का ही पतन होता है और अन्नमय कोष के ही परिवर्तन को देखकर, उसको अज्ञानीलोग जीवनाशकारी मृत्यु कहते हैं। मेरी सूक्ष्म शक्तिरूपी पञ्च प्राण और पंच कर्मेन्द्रियां मिला कर प्राणमय कोष बनता है। यही महान् प्राणमय कोष हे देवतागण ! तुम्हारे सूक्ष्मलोक और स्थूल मृत्युलोक का सम्बन्ध स्थापन करता है। हे देवगण ! मन और पांचों ज्ञानेन्द्रिय मिलकर 'मनोमय कोष बनाते हैं। ॥१३५-१३९॥

स्याद्विज्ञानमयः कोषो बुद्धिर्ज्ञानेन्द्रियैः समम् ।
देवाः ! मनोमयः कोषः कोषः प्राणमयस्तथा ॥१४०॥

विज्ञानमयकोषोऽपि सम्भूयैतत्रयं सह ।
शरीरं प्राणिनां सूक्ष्मं समुत्पादयतेतराम् ॥१४१॥

पाचों ज्ञानेन्द्रिय और बुद्धि मिलकर विज्ञानमय कोष कहलाता है। हे देवगण ! प्राणमय मनोमय और विज्ञानमयकोष, ये तीनों मिलकर प्राणियों का सूक्ष्मशरीर बनता है ॥१४०-१४१॥

शरीरं सूक्ष्ममेवाहो दशामेत्यातिवाहिकीम् ।
अधिलोकान्तरं सर्वं शक्नुयाभ्रमितुं सुराः ! ॥१४२॥

हे देवतागण ! सूक्ष्मशरीर ही आतिवाहिक अवस्था को धारण करके सब लोकान्तर में घूमने का अधिकार प्राप्त करता है ॥१४२॥

कारणाख्यवपुर्भूताऽविद्यायां नन्ववस्थितः।
मियमोदप्रमोदैहि भावैरेभिः समन्वितः ॥ १४३ ॥

आत्मस्वरूपावरको देवाः ! मलिनसत्त्वकः।
नाम्नाऽऽनन्दमयः कोषः कथ्यते वेदपारगैः ॥१४४॥

हे देवगण ! कारणशरीर भूत अविद्या में स्थित, मलिन सत्त्व, आत्म स्वरूप का अज्ञानरूप और प्रिय मोद और प्रमोद इन भावो से युक्त आनन्दमय कोष वेदपारगों के द्वारा कहा जाता है ॥१४३-१४४॥

एतदेवास्ति जीवानां शरीरं कारणं ध्रुवम् ।
चतुर्विंशतितत्त्वानामयं हेतुर्यतोऽस्त्यहो ॥ १४५ ॥

निश्चय जीवों का यही कारण शरीर है क्योंकि यही चौबीस तत्वों का कारण है ॥१४५॥

अविद्याऽऽवरणादेव मत्मधानस्वरूपयोः ।
स्वरूपं न प्रतीयेत कैश्चिज्जीवगणैरिह ॥१४६॥

प्रतीत्यभाव एवास्ति स्वरूपस्य सुरोत्तमाः।
सर्वेषां जीवजातानां कर्मवन्धनकारणम् ॥१४७॥

हे देवतागण ! अविद्यावरण के कारण मेरी प्रकृति का और मेरा स्वरूप किसी जीव को, प्रतीत नहीं होता, ऐसा न होना ही सब जीव समूह के कर्मबन्धन का कारण है ॥१४६-१४७॥

विद्योपास्त्या यदा भक्ता ज्ञानिनो योगिनो मम ।
मन्मकृत्याः स्वरूपं नन्वित्थं तत्त्वविचारतः ॥१४८॥

विदन्ति नितरां देवाः ! अहं भक्तांश्च तांस्तदा ।
प्रकृत्यैव स्वया सार्द्ध सायुज्यं ब्रह्मणो नये ॥१४९॥

परन्तु जब विद्या की उपासना से मेरा योगी ज्ञानी भक्त इस प्रकार तत्त्वविचार द्वारा मेरी प्रकृति का स्वरूप जान जाता है, हे देवगण ! तब मैं अपनी प्रकृति के सहित उन भक्तों को निरन्तर ब्रह्म सायुज्य प्राप्त कराती हूँ॥१४८-१४९॥

तदा मे ज्ञानिभक्तानां कर्मबन्धनरज्जवः।
पावकैरिव सन्दग्धा जायन्ते बन्धनेऽक्षमाः ॥१५०॥

मेरे ज्ञानी भक्त के लिये कर्मबंधन उस समय अग्नि से दग्ध रस्सी के समान बन्धन में शक्तिहीन हो जाती है ॥१५०॥

ज्ञानिनां मम भक्तानां देवाः ! विद्यास्वरूपिणी।
विमुच्य प्रकृतिस्तेभ्यः कर्माणि निखिलानि वै ॥१५१॥

स्वायत्तानि प्रकुर्वन्ती भक्तानचं विभ्रती।
तत्कल्याणकदम्बञ्च विधातुं लीयते मयि ॥१५२॥

हे देवगण ! विद्यारूपिणी प्रकृति मेरे ज्ञानी भक्त के सब कर्मों को उससे छुड़ाकर अपने को विस्तृत करती हुई भक्त को अपने अंक में धारण करके भक्त के कल्याणार्थ मुझमें विलीन हो जाती है ॥१५१-१५२॥

उच्यते ब्रह्मसद्भावो भक्तसम्मेलनं मयि ।
एतद्वः कथितं देवाः ! ज्ञानविज्ञानमद्भुतम् ॥१५३॥

भक्त का मुझमें मिल जाना ही ब्रह्मसद्भाव कहाता है । हे देवतागण ! इस अद्भुत ज्ञानविज्ञान को आपलोगों से मैंने कहा है ॥१५३॥

इति श्रीशक्तिगीताम्पनिपत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
महादेवीदेवसम्वादे ज्ञानविज्ञानयोगवर्णनं नाम षष्ठोऽध्यायः ।

इस प्रकार श्रीशक्तिगीतोपनिषद् के ब्राह्मविद्यासम्बन्धी महादेवी देवसंवादात्मक योगशास्त्रका ज्ञान विज्ञान योगवर्णन नामक पष्ठ अध्याय समाप्त हुआ।

॥ श्रीजगन्मात्रे नमः॥

# ॥ श्री शक्ति गीता ॥

## अथ सप्तमोऽध्याय : सातवाँ अध्याय

### विराऱूपदर्शनविभूतियोगवर्णनम्

देवाऊचुः॥१॥

देवतागण बोले ॥१॥

सर्वशक्त्याश्रये ! देवमातर्मुक्तिविधायिनि ।
भवती यत्कृपातो नस्तत्वज्ञानमुपादिशत् ॥२॥

हे देवजननी ! हे जीवमुक्तिविधायिनी ! हे सर्वशक्तिमयी! आपने जो कृपा करके हमें तत्त्वज्ञान का उपदेश दिया है ॥२॥

तज्ज्ञानेन जगन्मातरित्यस्माभिः प्रतीयते।
साम्प्रतं यद्भवद्रूपं सम्पशयामो वयं शिवे ! ॥३॥

विद्यतेऽस्मन्मनोभाववेगेनैवानुकल्पितम् ।
भवदयामसूतञ्च सौभाग्योपस्थितञ्च तत् ॥४॥

उस ज्ञान से हम लोगों को हे जगन्मातः! यही प्रतीत होता है कि इस समय जो हम आपका रूप देख रहे है सो हे शिवे ! केवल हमारे

मनोभाव कल्पित और आपकी अपार कृपा एवं सौभाग्य से प्राप्त है। ॥३-४॥

तन्नो मातः ! कृपां कत्वा रूपं तद्दर्शयाधुना।
यस्मिस्ते ज्ञानिनो भक्ता निरीक्ष्य भवती मुहुः॥५॥

उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति परमानन्दसागरे।
सार्थकं जन्म कुर्वन्ति कृतकृत्या भवन्ति च ॥६॥

इस कारण हे मातः ! अब वह रूप कृपा करके हमें दिखाइये जिसमें आपके ज्ञानी भक्त आपको देखकर परमानन्द सागर में बारम्बार उतरते-डूबते हैं, जन्म को सार्थक बनाते हैं और कृतकृत्य होते हैं ॥५-६॥

महादेव्युवाच ॥ ७॥

महादेवी बोली ॥७॥

भवभक्त्यधिकाराभ्यां प्रसन्नाह ददामि वः।
दिव्यं चक्षुर्ममैवैतद्विराड्रूपं प्रपश्यत ॥ ८॥

मैं आपकी भक्ति और आपके अधिकार से प्रसन्न होकर आपको दिव्य चक्षु प्रदान करती हूँ, आप मेरे इस विराट रूप को देखें ॥८॥

देवा ऊचुः ॥९॥

देवतागण बोले ॥९॥

मातर्वयं विस्मयमावहामः मोदे कदाचिन्नितरां पतामः।

क्षणेऽपरे साध्वसमाश्रयामो यदेकशक्त्या प्रकटलमत्य ॥१०॥

त्वं वाङ्मनोबुद्धिभिरममेया सुखं धरन्ती दशसंख्यकाभिः।
अनाद्यनन्ताभिरहो दिशाभि विभासि पूर्ण किल देशरूपम् ॥११॥

हे मातः! हम अतिचमत्कृत हुए हैं, कभी हम आनन्द में गोता खाते है और दूसरे क्षण में भय को प्राप्त करते हैं, वाक्, मन, बुद्धि से अतीत आप एक शक्तिरूप से प्रकट होकर अनादि अनन्त दसों दिशाओं से पूर्ण देशरूप को सुख से धारण करती हुई शोभती हो ॥१०-११॥

स्वस्याश्च मन्ये स्वयमेव शक्ते राधन्तशून्यं जनकस्वरूपम् ।
मातर्महाकाललमुं जनिला सार्द्धश्च तेनैव विहर्तुमुत्का ॥१२॥

हे मातः! आप ही मानो अपनी शक्ति से आदि अन्तरहित पितृरूप इस महाकाल को उत्पन्न करके उसी के साथ विहार करने को प्रवृत्त हुई हो ॥ १२॥

अनाद्यनन्तं तब देवि ! रूप द्वयं महाकालसुदेशरूपम् ।
वाणीमनोबुद्धिवलादतीतं मन्यामहेऽस्तीति विभुस्वरूपम् ॥१३॥

हे देवि! आपके देश और काल दोनों रूप ही आदि-अन्त रहित और वाणी मन बुद्धि के बल से अगोचर और विभु हैं इस बात को हम मानते हैं ॥१३॥

अनाद्यनन्तौ किल कालदेशौ व्यातस्य नूनं प्रतिरोमकूपम् ।

विराटशरीरस्थ तवैव भान्ति ब्रह्माण्डसङ्घा अमिता महान्तः ॥१४॥

आपके ही अनादि अनन्त देश और अनादि अनन्तं कालव्यापी विराट्, शरीर के प्रतिरोमकूप में अगणित महान् ब्रह्माण्डसमूह देदीप्यमान हो रहे हैं ॥१४॥

ब्रह्माण्डप्रत्येकप्रवन्धमध्ये पश्याम आत्मानमहो पृथक् पृथक् ।
दृष्टिर्न सर्वत्र नं एति यद्यपि परन्तु यत्रैव समेति तत्र हि ॥१५॥

ब्रह्माण्डसङ्घान्यतमे पुनर्वयं ब्रह्माणमीशञ्च हरिश्च देवान् ।
सर्गस्थितिप्रत्याहारसक्तान् पृथक्-पृथक् तानवलोकयामः ॥१६॥

अहो! प्रत्येक ब्रह्माण्ड के प्रबन्ध में हम अपने को पृथक् पृथक् रूपसे देख रहे हैं। यद्यपि हमारी दृष्टि सब जगह नहीं पहुंचती है; परन्तु जिस ब्रह्माण्ड में पहुंचती है वहीं पुनः हम पृथक् पृथक् रूप से सृष्टि स्थिति और प्रलय कार्य में आसक्त विधिः हरि-हर तथा अपने को देख रहे हैं ॥१५-१६॥

ब्रह्माण्डमकैकमहो विशालम् भूतबजानाञ्च चतुर्विधानाम् ।
आच्छादितं खल्वमितैश्च पिण्डैः पश्याम आश्चर्यमयं विचित्रम् ॥१७॥

हम सब, विशाल ब्रह्माण्डों को ही चतुर्विध भूतसंघ के अगणित पिण्डो से आच्छादित, आश्चर्य्यमय और विचित्र देख रहे हैं ॥१७॥

ब्रह्माण्डसंघेप्वखिलेषु मातः ! दृष्ट्वा च देवर्षिपितृननेकान् ।

तथा च नानाविधमर्त्यवर्गान पृथक्तया नश्चकिताऽस्ति बुद्धिः ॥१८॥

हे मातः ! सब ब्रह्माण्डों में पृथक् पृथक् रूप से ऋषिसमूह, पितृसमूह देवतासमूह और अनेकों प्रकार की मनुष्य श्रेणियों को देखकर हमारी बुद्धि चकित हो रही है॥१८॥

यदा तु संख्यातुमहो न शक्यते अनाद्यनन्ते वपुपि स्थितस्तव।
ब्रह्माण्डसंघोऽपि तदास्ति का कथा पिण्डव्रजस्यामितकेन्द्रभाजिनः
॥१९॥

अहो ! जब आपके अनादि अनन्त वपु में स्थित ब्रह्माण्डों की ही गणना नहीं हो सकती तो अनेक केन्द्र वाले पिण्डों की गणना कौन कर सकता है ॥१९॥

ब्रह्माण्डप्रत्येककविभागमध्ये सूर्याग्निचन्द्रात्मकमस्ति मातः ।
नेत्रत्रयं ने विमलं विशालं त्वं येन दृष्ट्वा हरसि त्रितापम् ॥२०॥

प्रत्येक ब्रह्माण्ड के विभाग में सूर्य अग्नि और चन्द्र रूपसे हे मातः ! आपके विमल और विशाल त्रिनेत्र विद्यमान हैं जिनसे देखकर आप जगत का त्रिताप दूर करती हैं ॥२०॥

व्याप्नोति मूर्धा तव चोर्द्धवलोक मधास्थलोकञ्चरणद्वयन्ते।
ब्रह्माण्डसङ्घस्य हि तस्य यावदाकाशमास्ते तब कर्णपुञ्ज: ॥२१॥

आपका मस्तक उद्धर्व लोक में व्याप्त और आप के पदद्वय अधोलोक में व्याप्त हो रहे हैं । उस ब्रह्माण्ड संघ के आकाशभर में आपका कर्णसमूह है ॥२१॥

त्वचो हि यावत्पवनं त्वदीयाश्चक्षुर्बजस्तेऽस्ति च यावदग्नि।
यावज्जलं ते रसना रसज्ञा यावक्षिात घ्राणसमूह आस्ते ॥२२॥

वायुभर में त्वचा, तेजभर में चक्षु, जहां जहां जल है वहां वहां रसज्ञा रसना और पृथिवीभर में नासिका व्याप्त हो रही है ॥२२॥

अतश्च मातस्त्वमनन्तकर्णाह्यसङ्ख्यकत्वग्भिरथावृताऽसि।
अनन्तनत्राऽमितलोलजिह्वा त्वनन्तनासा स्वत एव भासि ॥२३॥

इससे हे मातः! आप स्वत: ही अनन्त कर्ण विशिष्ट, अनन्तं त्वचा विशिष्ट, अनन्त नेत्र विशिष्ट, अनन्त रसना विशिष्ट और अनन्त नासिका विशिष्ट प्रतीत होती हो ॥२३॥

आनन्त्यहेतोश्च दिशा देशाना मनन्तपादा त्वमनन्तवाहुः।
अस्माकमम्ब ! त्वमनन्तरूपां नेत्रावलीगोचरतामुपैषि ॥२४॥

दसों दिशाओं की अनन्तता के हेतु हे मातः ! आप अनन्त पाद अनन्त बाहु और अनन्त रूप मे देखने में आती हैं ॥२४॥

विराड्वपुस्ते प्रसमीक्ष्य मातः! अनन्तमाश्चर्यमयं मनो नः ।
विमुह्यते धीः स्थगिता चे नोऽस्ति सन्द्रियौघः शिथिलायते च ॥२५॥

हे मातः ! आपके अनन्त और आश्चर्य्यमय विराट शरीर को देख हमारा मन विमुग्ध और बुद्धि चकित हो रही है तथा सब इन्द्रियां शिथिल होती जाती हैं ॥२५॥

वहत्तनेत्रैश्च विलोकयामो ह्यगावशक्तेर्जगदम्बिके ! ते ।
नादिर्न चान्तो न च मध्यमस्ति विद्यो वयं त्वां धृतशक्तिमाम् ॥२६॥

आपके दिये हुए दिव्य चक्षु द्वारा हम देख रहे हैं कि हे मातः ! आपकी अगाध शक्ति का न आदि है न मध्य है और न अन्त है इस कारण आप ही शक्तिमती हो ऐसा हम लोग समझते हैं ॥२६॥

सशक्तिशक्त्योर्न च भेदकल्पना भवत्यहो कापि सुधीरसंसदि।
तवैव शक्तेश्च विलासमात्रता विराडवपुस्ते बहते निरन्तरम् ॥२७॥

शक्ति और शक्तिमान में भेद कल्पना किसी विद्वत समाज में असम्भव है, अहो ! आपका यह विराट् देह आपकी शक्ति का ही विलासमान है ॥२७॥

ईक्षामहेऽद्याऽग्विलविश्वमातः! यत सच्चिदानन्दमयस्वरूपात ।
केन्द्रात्स्वतो भावमयाभवत्या उत्पद्य शक्तिः किल चिन्मयीयम्
॥२८॥

हे जगन्मातः! अब हम देखते हैं कि आपके सच्चिदानन्दरूपी भावमय केन्द्र से यह चिन्मयी शक्ति अपने आप ही प्रकट होकर, जिसमें

अनेक बड़े बड़े चतुर्दश भुवन शोभते हैं ऐसे अनन्त ब्रह्माण्डों की सृष्टि स्थिति और लय नित्य करती है। ॥२८॥

चतुर्दशाहो भुवनानि यत्र विभान्त्यनेकानि महान्ति तस्य ।
ब्रह्माण्डसङ्घस्य करोति नित्यं सर्गस्थितिप्रत्यवहारकार्यम् ॥२९॥

तत्राप्यनन्तान किल जीवपिण्ड श्चतुर्विधैर्भूतगणैः संयुक्तान्।
अनेककेन्द्रेषु पृथगविभक्तान विलापयन्ती जनयन्त्यवन्ती ॥३०॥

हठासंख्यान स्वत एव जीवान वध्नात्यविद्यादपाशवन्धैः ।
भूयस्ततस्तानपि पाशवद्धान् विद्यामप्रदानेन करोति मुक्तान् ॥३१॥

उन ब्राह्माण्डों में भी चतुर्विध भूत संयुक्त नाना केन्द्रों में पृथक पृथक् विभक्त अगणित जीव पिण्डो की सृष्टि स्थिति और लय करती हुई स्वतः ही असंख्य जीवों को हठात् अविद्यारूपी दृढ़ पाशवन्धन से बांध देती है और पुनः विद्यापदान करके पाशवद्ध उन जीवों को मुक्त करती है ॥२९-३१॥

पुनश्च तान् पाशविमुक्तजीवान सम्मेल्य नैजे परमस्वरूपे।
ब्रह्मप्रमोदे मुनिमज्जयन्ती ततश्च तान् दर्शयते स्वरूपम् ॥३२॥

फिर भी पाशमुक्त उन जीवों को अपने परमस्वरूप में मिलाकर ब्रह्मानन्द मे डुबाती हुई उनको अपने स्वरूप का दर्शन करा देती है ॥३२॥

शक्तिर्यतः सा प्रकटत्वमेत्य त्वनन्तवैचित्र्यमयं स्वरूपम्
धरन्यसङ्ख्यं विविधञ्च मातः ! एकाद्वितीयं पुनरोति रूपम् ॥३३॥

वह शक्ति जहां से प्रकट होती है, अनन्त वैचित्र्यमय असंख्य और विविध रूपको धारण करती हुई हे मातः! पुनः एक अद्वितीय रूप को प्राप्त हो जाती है ॥३३॥

एकाद्वितीयं सुविधृत्य रूपम् लिनोति तत्र प्रभरे स्वकीये।
अस्याश्च शक्तेन रहस्यमेतद्वियो वयं मूर्च्छति धीहि नोऽद्य ॥३४॥

और एक अद्वितीय रूप धारण करके उसी अपने उत्पत्तिस्थान में लय हो जाती है। इस शक्ति का यह रहस्य, हम लोग नहीं समझ रहे हैं, इस समय हमलोगों की बुद्धि मूर्छित हो रही है॥३४॥

नवैव शक्तिश्च विभर्ति दैवं राज्यं सुमुक्ष्मं जगदम्बिके ! नः ।
स्थूलं हि लोकं किल मानवानाम विभर्ति नित्यं सचराचरञ्च ॥३५॥

हे जगन्मातः! आपकी ही शक्ति हम लोगों के सुसूक्ष्म देवी राज्य को धारण किये हुई है और आपकी ही शक्ति इस चराचर स्थूल मनुष्य लोकको भी नित्य धारण किये हुई है ॥३५॥

ब्रह्माण्डपिण्डेषु चतुर्दशैव व्याप्तान्यहो यद्भवनानि भान्ति ।
त्वच्छक्तिपुत्रस्य परात्परस्य । विलासमात्राणि च केवलानि ॥३६॥

अहो! ब्रह्माण्डों में और पिण्डों में जो चतुर्दश भुवन व्याप्त हैं वह केवल आपके परात्पर शक्तिपुंज के ही विलासमान हैं ॥३६॥

एकाऽद्वितीया तव शक्तिरम्बिके ! स्थूलञ्च सूक्ष्मं च तु कारणच नः।
रूपं धरन्ती परिदर्शयसहो अनाद्यनन्तं सुविराड्वपुस्तव ॥३७॥

हे मातः ! आपकी एक अद्वितीय शक्ति स्थूल, सूक्ष्म, और कारणरूप को धारण करती हुई अहो ! इस अनादि अनन्त आपके विराट् वपु का हम लोगों को दर्शन करा रही है। ॥३७॥

मातस्तवानन्तमुखीमनन्त नेत्रामनन्तश्रुतिशीर्षजुष्टाम् ।
अनन्तनासोदरवाहुपादां धीर्नो विराड्मत्तिमाक्ष्य सन्ना ॥३८॥

हे जगन्मातः ! आपकी इस अनन्त शिर, अनन्त नेत्र, अनन्त मुख,अनन्त कर्ण, अनन्त नासिका, अनन्त बाहु, अनन्त उदर और अनन्त पदविशिष्ट विराट् मूर्ति को देखकर हमारी बुद्धि मूर्छित हो रही है ॥३८॥

विराड्पं दिव्यं प्रतिपलमहो देवजननि !
वयं नैवालं तेऽनुभवितुमदो विस्मयकरम्
यतो रूपं दृष्ट्वाऽद्भुतमतिविशालश्च नितरां ।
धियो मूचर्छो भेजुः किमुत मनआदीन्द्रियगणः ॥३९॥

हे देवजननी ! आपके इस दिव्य और विस्मयकर विराट रूप को अहो! हम प्रतिक्षण अनुभव करने में असमर्थ हैं क्योंकि इस अद्भुत और अत्यन्त विशाल रूप के दर्शन करते करते मन आदि इन्द्रियों की तो बात ही नहीं बुद्धि तक अत्यन्त मूर्छित हो जाती है ॥३९॥

कृपां कृत्वाऽतोऽस्मानतितरमनोज्ञं मुखकरं
प्रदर्श्य स्वं रूपं हयुपादिश तदेवं त्वमधुना ।
प्रपञ्चे दृश्येऽनुक्षणमथ वयं येन भवती
मलं द्रष्टुं देशे निखिलसमये पात्रनिवहे ॥४०॥

इस कारण आप कृपा करके अतितर मनोहर और सुखकर अपने पूर्वरूप में ही हमको दर्शन देकर इस समय ऐसा उपदेश दीजिये कि जिससे हम आपको इस दृश्य प्रपञ्च में रहकर सब देश काल पात्र में प्रतिक्षण दर्शन करनेमें समर्थ हो॥४०॥

वयं देवि! त्वत्तो यदधिकतरं साग्रहमिति
जनन्युक्तं कुर्मो विनयमति तत्कारणमहो।
असामर्थ्यं नून भगवति ! विजानीत च ततः ।
क्षमस्व प्रागल्भ्यं विहितमधुना यद्भ्रमवशात् ॥४१॥

हमारी अत्यन्त साग्रह इस प्रार्थना में हे भगवति ! हे देवि ! हे मातः ! हमारी असमर्थता ही कारण है सो कृपा कर जानिये, इस कारण हम क्षमाप्रार्थी हैं। हमारी प्रगल्भता को क्षमा किया जाय जो हमने भ्रमवश इस समय की है ॥४१॥

महादेव्युवाच ॥४२॥

महादेवी बोली ॥४२॥

इदानी सुगमोपायं पुरो को वर्णयाम्यहम् ।
निःशेष मद्धितं वाक्यं शान्तचित्तैनिशम्यताम् ॥४३॥

अब मैं आपलोगों को सुगम उपाय का उपदेश देती हूँ शान्तचित्त होकर मेरी सब हित की बातों को सुनिए ॥४३॥

विराटरूपानुभूतिर्मे कर्त्तुं चेन्नैव शक्यते ।
मद्गुणादिप्रभेदेषु दृश्येऽहं च विभूतिषु ॥ ४४ ॥

आप यदि मेरे विराट रूप के अनुभव करने में असमर्थ हो तो मेरे गुणादि भेद में और मेरी विभूतियों में मेरा दर्शन कीजिए ॥४४॥

व्याप्तास्म्यहञ्च दृश्येषु मूर्तित्रितयरूपतः ।
अहमेव त्रिदेवाश्च विधिविष्णुशिवात्मकाः ॥४५॥

मैं ही त्रिमूर्ति रूप से दृश्य में व्याप्त हूँ , मैं ही ब्रह्मा विष्णु महेश रूपी त्रिदेव हूँ ॥४५॥

देवर्षिपितृरूपाश्च तिस्रोऽधिष्ठातृदेवताः ।
अहमस्मि च भो देवाः ! नित्या नैमित्तिका ध्रुवम ॥४६॥

हे देवगण ! नित्यनैमित्तिक रूपसे मैं ही ऋषि, देवता, पितृ रूपी त्रिअधिष्ठातृ देवता हूँ ॥ ४६ ॥

धर्मास्य त्रिविधैरङ्गैरहमेव दिवौकसः !!
निःश्रेयसं मनुष्येभ्योऽभ्युदयश्च ददे पदम् ॥४७॥

हे देवतागण ! धर्म के त्रिविध अंगों के द्वारा मैं ही मनुष्यों को अभ्युदय और निश्रेयस पद प्रदान करती हूँ ॥४७॥

अहमेवास्मि हे देवाः ! भावत्रयस्वरूपभाक्।
येन भावत्रयेणाहं ज्ञानचक्षुर्ददत्यलम् ॥४८॥

अधिकारं त्रिनेत्रस्य दत्त्वा जीवेभ्य एव च।
प्रापयामि शिवस्याशु पदवी तानसंशयम् ॥४९॥

हे देवगण ! भावत्रय मैं ही हूँ जिनके द्वारा मैं ज्ञानचक्षु प्रदान करके त्रिनेत्र का अधिकार देकर जीव को शिव की पदवी निःसन्देह प्रदान करती हूँ ॥४८-४९॥

शक्तिर्ममैव दानानि व्याप्नोति त्रिविधानि च ।
तपस्विनोऽधिगच्छन्ति तपोभित्रिविधैः सुराः ! ॥५०॥

कायबाणीमनोजन्यैदैवी शक्ति ममैव तु ।
अहमेव त्रिधा यज्ञात्रिगुणैरहमेव च ॥५१॥

सम्पादयामि ब्रह्माण्ड-सृष्टिस्थितिलयक्रियाः।
अहं देहच पिण्डाख्यं पायां शक्तित्रयेण वै ॥५२॥

गुणत्रयात्मकग्लेप्म वातपित्तात्मकेन ह।
अहं वेदत्रयी देवाः ! ऋग्यजुःसामलक्षणा ॥५३॥

विविध दान में मेरी ही शक्ति व्याप्त है। हे देवगण ! कायिक, वाचिक और मानसिक त्रिविध तप के द्वारा तपस्वी गण मेरी ही दैवी शक्ति को प्राप्त करते हैं। त्रिविध यज्ञ मैं ही हूँ। मैं ही त्रिगुणरूप से ब्रह्माण्ड की सृष्टि, स्थिति, लय विधान करती हूँ। मैं ही त्रिगुणात्मक वात, पित्त, कफ रूपी त्रिविध शक्ति से पिण्ड की सुरक्षा करती हूँ । हे देवतागण ! ऋग, यजुः और सामरूप वेद त्रय मैं ही हूँ ॥५०-५३॥

प्रोक्ता या त्रिविधा भाषा निगमागमशास्त्रयोः।
लौकिकी परकीया च समाधिनामिका तथा ॥५४॥

तद्वारेणादेवाशु सम्प्रकाश्य जगद्गुरोः।
रूपमस्यां जगत्यां तु धर्मज्ञानं प्रकाशये ॥५५॥

वेद और शास्त्रो की लौकिकी, परकीया समाधि नामक त्रिविध भाषा जो कही गई है उसके द्वारा मैं ही जगद्गुरु का रूप शीघ्र प्रकट करके इस जगत्म धर्मज्ञान को प्रकाशित करती हूँ ॥५४-५५॥

कालरात्रिर्महारात्रिर्मोहरात्रिश्च दारणाः ।
तिस्रो राज्योऽहमेवास्मि जीवमोहविधायिकाः ॥५६॥

कालरात्रि मोहरात्रि और महारात्रिरूपी दारुण निरात्रि मैं ही हूँ जो जीव विमोह कारिणी हैं ॥५६॥

सन्ध्यास्तिस्त्रोऽहमेवास्मि तमःसत्त्वप्रभेदतः।
एताः सकामनिष्काम-भेदाभ्यां द्विविधाः स्मृताः ॥५७॥

त्रिसंध्या मैं ही हूँ, सत्त्व और तम के भेद से, निकाम और सकाम के भेद से, वे संध्या द्विविध होती है ॥५७॥

अहं दिवात्रयञ्चास्मि ह्यात्मज्ञानप्रकाशकम्।
आध्यात्मिकेऽहमेवालं नूनमुक्तदिवाकये ॥५८॥

हृदये ज्ञानिभक्तानां चित्कलापूर्णरूपतः।
प्रकाशेऽनुक्षणं देवाः ! नात्र कश्चन संशयः ॥५९॥

हे देवतागण ! आत्मज्ञान प्रकाशक दिवात्रय भी मैं ही हूँ । उक्त तीन आध्यात्मिक दिनों मे मैं ही अपनी चित्कला के पूर्णस्वरूप में भलीभांति मानी भक्तों के हृदय में अनुक्षण अवश्य प्रकाशित रहती है, इसमें कुछ भी सन्देद नहीं है ॥५८-५९॥

लौहत्रयस्वरूपेण स्वभक्तेभ्यो निरन्तरम् ।
ददामि देहनरुज्यमहमेव न संशयः ॥३०॥

लौहत्रय के रूप में मैं ही निःसन्देह अपने भक्तों को शरीर का नैरोग्य निरन्तर प्रदान करती हूँ ॥६०॥

व्याधित्रयं महाघोरमहमेवामि निर्जराः
चिकित्सा विविधा चाहमेव तस्यापनोदिका ॥६१॥

हे देवगण: तीन प्रकारकी महाघोर व्याधि मैं हूँ और व्याधि दूर करनेवाली तीन प्रकार की चिकित्सा मैं ही हूँ ॥६१॥

उधर्वाधोमध्यलोकाख्य-लोकश्रेणीत्रयं सुराः ।
व्याप्नुवन्त्यहमेवैताश्रीक्रर्गान पुनः पुनः ॥६२॥

आवागमनचक्रेषु सम्परिभ्रामयामि च ।
अहं त्रिगुणभेदेन जीवकानुसारतः ॥६३॥

मूढानां मानवानाञ्च युष्माकञ्चैव योनिषु ।
त्रिविधानधिकारान् हि तेभ्यः सम्प्रददे ध्रुवम ॥६४॥

हे देवगण ! उदर्ध्व, मध्य और अधोलोकरूपी त्रिविध लोक श्रेणी में मैं ही व्याप्त रहकर इन जीवों को वारंवार आवागमन चक्रों में परिभ्रमित करती हूँ । त्रिगुण भेद से मैं ही मूढयोनि मनुष्ययोनि और देवयोनियों में जीवों के कर्मों के अनुसार उनको त्रिविध अधिकार अवश्य ही प्रदान करती हूँ ॥६२-६४॥

अहमेवोच्चीवेषु पूर्णशक्तियुतेषु हि ।
आसुरं राक्षसञ्चैव दैवं भावञ्च विभ्रती ॥६५॥

तेभ्यो हि पूर्णजीवेभ्यो ददामि त्रिविधं फलम् ।
जैवैशसहजाख्यैवै विश्वं व्याप्तास्मि कर्मभिः ॥६६॥

पूर्ण शक्ति युक्त उन्नतजीवों में ही दैव आसुर और राक्षस भाव को धारण करती हुई उन पूर्ण जीवों को त्रिविध फल प्रदान करती हूँ । जैव ऐश और सहज कर्मरूप से मैं ही जगत में व्याप्त हूँ ॥६५- ६६॥

कारणस्थूलसूक्ष्माख्यैः शरीरैत्रिविधैरहम् ।
जीवानां ननु जीव्रत्वविधानं विदधे सुराः ! ॥६७॥

स्थूल सूक्ष्म कारण नामक त्रिविध शरीर रूप से हे देवगण ! मैं ही जीवो का जीवत्व विधान करती हूँ ॥६७॥

सर्वास्त्रिगुणसम्बन्धादुत्पन्नाश्चित्तवृत्तयः।
अहमेवास्मि भो देवाः ! पदार्थेष्वखिलेषु च ॥६८ ॥

त्रिगुणानां विकाशा ये तेषु यद्यच्च दर्शनम् ।
त्रिभावैर्जायते तेषा तानि सर्वाण्यहं सुराः ! ॥६९॥

हे देवगण ! अन्तःकरण की सभी त्रिगुणसम्बन्धीय वृत्तियां मैं ही हूँ और सब पदार्थों में त्रिगुण का जो जो विकाश और उनमें निभाव से त्रिगुण का जो जो दर्शन होता है वह सब मैं ही हूँ ॥६८-६९॥

ममैव दयया देवाः ! मद्भक्तास्ते निरन्तरम् ।
ब्रह्मेश्वराविराटरूप-भावेषु त्रिविधेषु वै ॥७०॥

सर्वथा दर्शनं कृत्वा कृतकृत्या भवन्ति में ।
जीवशान्तिपञ्चास्मि प्रसादत्रयमुत्तमम् ॥७१॥

और हे देवगण ! मेरी ही कृपा से मेरे भक्त, ब्रह्म ईश और विरादरूपी विविध भाव में मेरा दर्शन करके सर्वथा कृतकृत्य होते हैं और जीवों की शान्ति देने वाले तीनों प्रकार के उत्तम प्रसाद मैं हूँ ॥७०-७१॥

कृष्णशुक्ले तथा देवाः ! सहजेति गतित्रयम्।
अहमेवाऽस्मि शुभदं सत्यमेतन्न संशयः ॥७२॥

हे देवतागण ! कृष्ण, शुक्ल और सहज, मङ्गलकर यह तीन गतियां मैं ही हूँ, यह सत्य है सन्देह नहीं ॥७२॥

त्रिविधाश्च सदाचारा अहमेव न संशयः।
एतत्सर्वं ममैवास्ति त्रिभावात्मकंवैभवम् ॥७३॥

त्रिविध सदाचार मैं ही हूँ सन्देह नहीं, ये सब मेरे ही त्रिभावात्मक वैभव हैं ॥७३॥

परं यथार्थतस्त्वेकाद्वितीयाहं न संशयः।
अन्ये भेदाञ्च भो देवाः ! श्रूयन्तां सप्तधा मम ॥७४॥

परन्तु वास्तव में मैं निःसन्देह एक और अद्वितीय हूँ । हे देवतागण ! मेरे सात प्रकार के भेद और सुनिये ॥७४॥

स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चेषु व्याप्तास्मि सप्तरूपतः ।
अज्ञानज्ञानयोरस्मि भूमयः सप्त सप्त च ॥७५॥

मैं सप्तरूप से स्थूल और सूक्ष्म प्रपञ्च में परिव्याप्त हूँ। सप्त ज्ञानभूमि मैं हूँ और सप्त अज्ञानभूमि भी मैं हूँ ॥७५॥

उद्धर्व लोकाश्च ये सप्त ह्यधोलोकाश्च सप्त ये ।
अहमेवास्मि ते सर्वे सप्त प्राणास्तथैव च ॥७६॥

सप्त व्याहृतयः सप्त समिधः सप्त दीप्तयः।
अहमेवास्मि भो देवा ! सप्त होमा न संशयः ॥७७॥

जो सप्त उद्धर्व लोक और सप्त अधोलोक हैं, वह वे सब मैं ही हूँ और उसी प्रकार हे देवगण ! सप्त प्राण, सप्त दीप्ति, सप्त समिधा, सप्तहोम और सप्त व्याहृति, निश्चय मैं ही हूँ। ॥७६-७७ ॥

वारा वै सप्त भूत्वाथ कालं हि विभजाम्यहम् ।
सप्तभूम्यनुसारेण ज्ञानस्य त्रिदिवौकसः ! ॥७८॥

सप्त ज्ञानाधिकाराश्चोपासनायास्तथैव ते ।
सप्त कर्माधिकाराश्च सर्वं तेऽस्म्यहमेव भोः ॥७९॥

और सप्त दिन होकर मैं ही काल को विभक्त करती हूँ। हे देवगण ! ज्ञान की सप्त भूमिका के अनुसार सप्त ज्ञानाधिकार, उपासना के सप्त अधिकार और कर्म के सप्त अधिकार यह सब मैं ही हूँ ॥ ७८-७९ ॥

सप्तचक्रविभेदेषु प्राणावर्त्तात्मकेष्वहम् ।
पीठानां स्थापनं कार्यमाविर्भूय करोमि च ॥८०॥

प्राणावर्त रूपी- सप्त प्रकार चक्रों में मैं आविर्भत होकर पीठ स्थापन करती हूँ ॥८० ॥

कृष्णरक्तादिका वर्णा भूत्वा च सप्तसङ्ख्यकाः।
अहमेव जगत्सर्वे नितरां सम्प्रकाशये ॥ ८१॥

कृष्ण, रक्त आदि सप्त रंग होकर मैं ही सम्पूर्ण जगत् को निरन्तर प्रकाशित करती हूँ ॥८१॥

सप्तच्छायास्वरूपेण पुनश्चाहमिदं जगत् ।
गभीरध्वान्तपुञ्जेन सर्वमाच्छादयामि च ॥८२॥

पुनः मैं सप्त छायारूप से इस सम्पूर्ण जगत को घने तमसमूह से आच्छन्न कर देती है ॥८२॥

लौकिकं भावराज्यञ्च सप्तगौणरसैरहम् ।
व्यनज्मि, साधकान भूयः सुदिव्येऽलौकिके रसे ॥८३ ॥

सप्तमुख्यरसैरवोन्मजये च निमज्जये।
जीवानां स्थूलदेहेषु व्याप्तस्मि सप्तधातुभिः ॥८४॥

सप्त गौणरस रूप से मैं लौकिक भावराज्य को प्रकट करती हूँ और पुनः सप्त मुख्यरसों के द्वारा ही मैं अलौकिक सुदिव्य रसों में साधकों को उन्मजन निमजन कराती हूँ । सप्तधातु द्वारा मैं जीवों के स्थूलदेहों में व्याप्त हूँ ॥८३-८४॥

जीवाधारक्षितावस्यां व्याप्तास्मि च तथैव तैः।
मद्वाचकस्य भो देवाः ! प्रणवस्य निरन्तरम् ॥८५॥

सप्ताङ्गानि स्वराः सप्त सम्भूयोत्पादयन्ति च ।
सृष्टिं शब्दमयी सर्वा वैदिकी लौकिकी तथा ॥८६॥

और उसी प्रकार सप्तधातु द्वारा मैं जीवाधार इस पृथिवी में परिव्याप्त हूँ। हे देवगण ! मेरे वाचक प्रणय के सप्त अङ्ग, सप्त स्वर होकर सकल वैदिक और लौकिक शब्दमयी सृष्टि को निरन्तर उत्पन्न करते हैं।॥८५-८६॥

तीर्थानां सप्त भेदा वै पीठानाञ्च दिवौकसः।
अनार्यमानवानाञ्च सप्त भेदा यथोदिताः ॥८७॥

सप्ताधिकारा ये देवाः !आर्यजातेः प्रकीर्तिताः ।
सप्त स्थूलप्रपञ्चस्य शक्तयश्चाहमेव ताः ॥८८॥

हे देवतागण तीर्थो के सप्त भेद,पीठों के सप्तभेद,अनार्य मनुष्यों के सप्तभेद, आर्यजाति के सप्त अधिकार और स्थूलम पञ्च की सप्त शक्तियां यह सब मैं ही हूँ । ॥८७-८८॥

सप्तसागररूपेण सदा पर्यावृतातास्ति हि ।
निवासभूमिर्जीवानां मयैव सुरसत्तमाः ॥८९॥

हे देवतागण ! सर्वदा सप्त सागररूप से मैंने ही जीवों की निवास भूमि को आवृत कर रक्खा है ॥८९॥

उपासकगणान् सप्त-मातृकारूपमाश्रिता ।
अहन्नूपासनामार्गे विधायानेसरान् हि तान् ॥९०॥

उपासनानदीष्णातान् स्वसमीपं नयामि च।
भूमीर्दार्शनिकीः सप्त निर्माय ताभिरेन च ॥९१॥

आरोप्य ज्ञानसोपानं साधकांस्तत्ववेदिनः ।
न यस्मात् पुनरात्तिस्तत्कैवल्यपदं नये ॥९२॥

सप्त मातृकाल्प को आश्रय करके मैं ही उपासक गण को उपासना मार्ग में अग्रसर करके उपासना में प्रवीण उन उपासकों को अपने निकटस्थ कर देती हूँ। और सप्त दार्शनिक भूमि को बनाकर उन्हीं से मैं तत्त्वज्ञानी साधकों को ज्ञान सोपान में आरूढ़ कराकर जिससे पुनरावृत्ति नहीं होती उस कैवल्य पद में पहुंचा देती हूँ ॥९०-९२॥

सङ्क्षेपतोऽधुना देवाः ! वर्णिता मद्विभूतयः ।
त्रिविधाः सप्तधा चैव मया युष्माकमन्तिके ॥९३॥

हे देवतागण ! आपके समीप मैने संक्षेप से अपनी त्रिविध और सप्तविध विभूतियों का अभी वर्णन किया है। ॥९३॥

सर्वस्थानेष्वहं नूनं राज्ययोः स्थूलसूक्ष्मयोः।
सप्तभेदैत्रिभेदैश्च प्रकटत्वं गतास्म्यहो ॥९४॥

अहो ! मैं ही स्थूल और सूक्ष्म राज्य के सब स्थानों में त्रिभेद और सप्तभेद से प्रकट हूँ ॥९४॥

भेदत्रयानुसाराच सप्तभेदानुसारतः।
देशे काले च सर्वत्र द्रष्टुमीष्टेहि यश्च माम् ॥९५॥

ज्ञानी भक्तः स एवाशु माम्प्राप्नोति न संशयः ।
प्राप्यैव मां निमजेच्च परमानन्दसागरे ॥९६॥

जो मुझे सब देश और सब काल में त्रिभेद और सप्तभेद के अनुसार देखने में समर्थ होता है वही ज्ञानी भक्त निःसन्देह शीघ्र मुझको प्राप्त करता है और मुझको प्राप्त करकेही परमानन्दसागर में निमजन करता है ॥९५-९६॥

मत्सर्वव्यापकाखण्ड-सत्ता नैवानुभूयते।
यावत्कालमहो देवाः ! तावत्कालं ममैव हि ॥९७॥

शक्तिप्रकाशवैशिष्ट्याद्विशिष्टानाच दर्शनम् ।
विभूतीनां विधायाथ यूयं स्मरत मामलम् ॥९८॥

हे देवतागण ! जब तक मेरी सर्वव्यापक अखण्ड सत्ता का अनुभव न हो तब तक मेरी विशेष शक्ति-विकास के अनुसार विशेष विशेप विभूतियों के दर्शन करके आप लोग भलीभांति मेरा स्मरण किया करो ॥९५-९८॥

उद्भिज्जेषु ममाऽश्वत्यो रोगघ्नः स्वेदजेषु च ।
अण्डजे गरुड़ो देवाः ! गौर्विभूतिर्जरायुजे ॥९९॥

हे देवगण ! उद्भिजों में अश्वत्थ, स्वेदजो में रोघ्न, अण्डज में गरुड़ और जरायुज में गऊ मेरी विभूति है ॥९९॥

गुरुरास्मि ज्ञानवत्सु नरेषु च नराधिपः ।
वर्णेषु ब्राह्मणो वर्ण आश्रमेवान्तिमाश्रमः ॥१००॥

ज्ञानियों में मैं गुरु हूँ, मनुष्यों में मैं राजा हूँ, वर्णो में मैं ब्राह्मण हूँ, आश्रमों में मैं सन्यास हूँ ॥१००॥

असुरेषु बलिर्देवा: ! देवेषु च पुरन्दरः।
पावकोऽस्मि वसुप्वष्ट-संख्यकेषु न संशयः ॥१०१ ॥

हे देवगण । असुरों में मैं बलि हूँ, देवताओं में मैं इन्द्र हूँ, अष्टवसुओं मे मैं निःसन्देह पावक हूँ ॥१०१॥

विष्णुश्च द्वादशादित्य-मध्येऽस्मि सुरसत्तमाः !।
रूद्रेषु शंकरश्चास्मि ह्योकादशमितेषु च ॥१०२॥

द्वादशादित्यों में हे देवतागण ! मैं विष्णु है, एकादश रुद्रों में मैं शंकर हूँ ॥१०२॥

पितृणामर्यामा चाहम्रपीणां भृगुरस्म्यहम् ।
सामवेदोऽस्मि वेदेषु तेष्यास्मि प्रणवो ह्यहम् ॥१०३॥

ऋषियों में मैं भृगु हूँ, पितरों में मैं अर्यमा हूँ, वेदों में मैं सामवेद हूँ,सब वेदों में मैं प्रणव हूँ ॥१००॥

मन्त्रेषु मां हि गायत्री जानीत सुरसत्तमाः।
वाटिकासु पञ्चवटी यज्ञेषु जपयज्ञकः ॥१०४॥

हे देवगण मन्त्रों में मुझको गायत्री जानो, यज्ञों में में जपयश हूँ, वाटिकाओं में मैं पञ्चवटी हूँ ॥१०१॥

सूर्योऽस्मि ज्योतिषां मध्ये हम्र्येषु देवमन्दिरम् ।
सर्गेषु चेतना चास्मि पर्वतेषु हिमालयः ॥१०५ ॥

प्रासादों में मैं देवालय हूँ,ज्योतियों में मैं सूर्य हूँ, सृष्टि में मैं चेतना हूँ, पर्वतों में मैं हिमालय हूँ ॥१०५॥

अहं नदीषु गङ्गास्मि समुद्रोऽस्मि जलाशये ।
पृथिव्यां तीर्थरूपाहं देवर्षिजस्मि नारदः ॥१०६॥

नदियों में मैं गंगा हूँ, जलाशयों में मैं सागर हूँ, देवर्षियों में मैं नारद हूँ, पृथिवी में मैं तीर्थरूपा हूँ ॥१०६॥

उपास्यस्थानवर्गेषु पीठरूपाहमस्मि च ।

शासकेषु यमश्चास्मि विद्यास्वध्यात्मनामिका ॥ १०७॥

उपास्य स्थानों में मैं पीठरूपा हूँ , शासकों में मैं यमराज हूँ, विद्याओं में मैं अध्यात्मविद्या हूँ ॥१०७॥

शास्त्रेषु दर्शनं शास्त्रं वादोऽस्मि वादशैलिपु ।
वाक् कीर्तिः श्रीश्च नारीषु पौरुषं पुरुषेप्वपि ॥१०८॥

शास्त्रों में में दर्शन शास्त्र, हूँ, विचार शैलियों में मैं वाद हूँ , नारियों में मैं कीर्ति श्री और वाणी हूँ, पुरुषों में मैं पुरुषकार हूँ॥१०८॥

अध्यात्मलक्ष्यं लक्ष्येषु गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽस्मि तेजः पुण्यवतामहम् ॥१०९॥

लक्ष्यों में अध्यात्म लक्ष्य हूँ, छन्दों में गायत्री मैं हूँ, मासों में मैं मार्गशीर्ष हूँ, पुण्यात्माओं में मैं तेज हूँ ॥१०९॥

ऋतूनाश्च वसन्तोऽस्मि व्यासोऽस्मि मुनिसंहतो।
दण्डरूपा व्यवस्थासु गुह्येषु मौनधारणम् ॥११०॥

ऋतुओं में मैं वसन्त ऋतु, हूँ , मुनियों में मैं व्यास हूँ, व्यवस्थाओं में मैं दण्डरूपा, गुह्यो में मैं मौन हूँ॥११०॥

धीरेषु ज्ञानरूपाऽस्मि नीतिरस्मि जिगीपताम् ।
देशेषु भारतं वर्षमार्यजातिश्च जातिपु ॥१११॥

धीर व्यक्तियों में मैं ज्ञानरूपा हूँ, जय की इच्छा करने वालों में मैं नीति हूँ, देश में मै भारतवर्ष और जातियों में आर्यजाति हूँ ॥१११ ॥

शब्दः खे पत्रने स्पर्शो रूप हुतवहेऽस्म्यहम् ।
अप्स्वस्म्यहं रसो देवाः ! पृथिव्यां गन्ध एव च ॥११२॥

हे देवतागण ! मैं आकाश में शब्द, वायु में स्पर्श, अग्नि में रूप, जल में रस और पृथिवी में गन्धरूपा हूँ ॥११२॥

यावद्देवगणाः सर्वे सात्त्विक्यों मे विभूतयः ।
यावन्तस्तेऽसुराश्चैव तामस्यों में विभूतयः ॥११३॥

जितने देवतागण हैं वे मेरी सात्त्विक विभूतियां और जितने असुरगण हैं वे मेरी तामसिक विभूतियां हैं। ॥११३॥

बीजं मां सर्वभूतानां वित्त देवाः ! सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि बलं बलवंतामहम् ॥११४॥

हे देवगण ! आपलोग मुझको सब भूतों का सनातन बीज समझे, मैं बुद्धिमानों में बुद्धि और बलवानो में बल हूँ ॥११४॥

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि विवुधर्षभाः!।
सतीत्वमार्यनारीषु कामरागविवर्जितम् ॥११५॥

हे देवगण ! मैं जीवों में धर्मानुकूल काम हूँ और आर्य नारियों में काम तथा राग से रहित पातिव्रत्य धर्मरुपा हूँ ॥११५ ॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रिता।
प्राणापानसमायुक्ता पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥११६॥

मैं वैश्वानर नामक अग्नि होकर प्राणियों के देह को आश्रय करके प्राण और अपान वायुओं से मिलकर चार प्रकार के अन्नों को पचाती है ॥११६॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वा: सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥११७ ॥

मैं तेज रूप से पृथिवी में प्रवेश करके जीवों को धारण करती हूँ और रसस्वरूप चन्द्रमा होकर सब औषधियों को पुष्ट करती हूँ ॥११७॥

आयुधानामहं वज्रं कालं कलयतामहम्।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥११८॥

मैं शस्त्रों में वज्र और वश में करनेवालों से काल हूँ, इस संसार में कोई भी चर अथवा अचर ऐसा नहीं है जो मुझसे रिक्त हो ॥११८॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां सुरर्षभाः!।
यत्र यत्र च मे शक्तेर्विकाशोऽस्ति विशेषतः ॥११९॥

आध्यात्मिकाधिदैवाधिभूतरूपैर्दिवौकसः !।

तत्तदेवावगच्छध्वं मच्छत्यंशविशेषजम् ॥१२०॥

हे देवगण ! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है, जहां जहां अध्यात्म, अधिदेव या अधिभूतरूप से मेरी शक्ति का विशेष विकास है, हे देवगण ! उन सबको मेरी ही शक्ति के विशेष अंश से उत्पन्न समझो ॥ ११९-१२०॥

अहमात्मा सुपर्वाणः ! सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यञ्च भूतानामन्त एव च ॥१२१॥

हे देवतागण ! मैं सब जीवों के अन्तःकरण में रहनेवाली आत्मारूप हूँ, मैं सब जीवों की आदि, मध्य और, अन्तरूपा हूँ ॥१२१॥

गतिर्भर्ता प्रभुर्माता निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवालयस्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१२२॥

मैं ही गति, भर्ता, प्रभु, माता, निवास स्थान, शरण, मित्र, उत्पत्ति तथा प्रलय का स्थान, मुक्तिस्थान और अविनाशी बीजरूपा हूँ ॥१२२॥

नारीरूपाऽहमेवास्मि नरूपा च दिवौकसः ! ।
लिङ्गातीताऽहमेवास्मि द्वन्द्वातीताप्यहं ध्रुवम् ॥१२३॥

अतीतास्मि च सर्वेभ्यों गुणेभ्यो नात्र संशयः।
भावातीताहमेवास्मि ब्रह्मरूपं समाश्रिता ॥१२४॥

हे देवतागण ! मैं ही पुरुषरूपा हूँ , मैं ही स्त्रीरूपा हूँ, मैं ही लिंग से अतीत, द्वन्द से भी अतीत, सब गुणों से अतीत और भाव से भी अतीत, निश्चय ही ब्रह्मरूपा हूँ ॥१२३-१२४॥

यद्रपं वः प्ररोचेत तस्मिन्नेव निरन्तरम् ।
उपास्येऽहं सुपर्वाणः ! मोक्षायालं तदेव वः ॥१२५॥

हे देवतागण ! आप लोगों की जैसी इच्छा हो उसी रूप में निरन्तर आप मेरी उपासना करो, उसी से आपकी मुक्ति हो जायगी ॥१२५॥

अहमेवास्मि भो देवाः ! धर्मकल्पद्रुमस्य च ।
बीजं मूलं तथाऽऽधारो नात्र कश्चन संशयः ॥१२६॥

हे अमरगण ! मैं ही धर्मकल्पसमुद्र का बीज भी हूँ, मूल भी हूँ और आधार भी हूँ, इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥१२६॥

स्कन्धस्तस्य द्रुमस्यास्ते धर्मो वै विश्वधारकः।
मुख्य शाखात्रयश्चास्य यज्ञो दानं तपस्तथा ॥१२७॥

उस वृक्ष का स्कन्ध विश्वधारक धर्म ही है। उसकी प्रधान तीन शाखाएँ हैं, यथा-यज्ञ, तप और दान ॥१२७॥

ब्रह्मार्थाऽभयदानानि देवाः ! त्रैगुण्ययोगतः।
दानस्य प्रतिशाखाः स्युर्नवधा नात्र संशयः ॥१२८॥

अर्थदान ब्रह्मदान और अभयदान के, त्रिगुणात्मक होने से दान की नौ प्रतिशाखाएँ हैं, हे देवगण! इसमें सन्देह नहीं है। ॥१२८॥

तपोऽपि त्रिविधं ज्ञेयं कायवाणीमनोभवम् ।
त्रैगुण्ययोगेनास्यापि प्रतिशाखा नवासते ॥१२९॥

शारीरिक तप, वाचनिक तप और मानसिक तप के त्रिगुणात्मक होने से तपोधर्म की नौ प्रतिशाखाएँ हैं ॥१२९॥

प्रतिशाखा अनेकाः स्युर्यज्ञशाखासमुद्भवाः ।
काम्याध्यात्माधिदैवाधिभूतनैमित्तनित्यकाः ॥१३०॥

कर्मयज्ञप्रशाखाया भेदास्त्वैगुण्ययोगतः।
त एवाष्टादशास्या हि प्रतिशाखा मनोहराः ॥१३१॥

यज्ञशाखा से उत्पन्न प्रतिशाखाएँ अनेक है। नित्य नैमित्तिक काम्य और अध्यात्म अधिदैव अधिभूत, यह कर्म यज्ञ रूपी प्रशाखाओं के भेद हैं, इनके त्रिगुणात्मक होने से कर्मयज्ञ की मनोहर, अठारह प्रतिशाखाएँ हैं ॥१३०-१३१॥

पितृदेवर्षिन्दानामवतारगणस्य च ।
पञ्चानां सगुणब्रह्म-रूपाणां निर्गुणस्य च ॥१३२॥

ब्रह्मणश्चासुरौघाणामुपास्ते पञ्च भक्तितः।
मन्त्रो हठो लयो राज एते योगेन च ध्रुवम ॥१३३॥

अस्या भेदाश्च चत्वारो भेदा एवं नवासते ।
एते भेदा नववाहो देवाः ! त्रैगुण्ययोगतः ॥१३४॥

उपास्तेः प्रतिशाखाः स्युः सङ्ख्यया सप्तविंशतिः।
श्रवणं मननश्चैव निदिध्यासनमेव च ॥१३५॥

त्रयोऽमी ज्ञानयज्ञस्य भेदास्त्रैगुण्ययोगतः ।
नवधा सम्विभक्ता हि प्रतिशाखा नवासते ॥१३६॥

उपासना यज्ञ के आसुरी उपासना, ऋषि, देवता और पितरों की उपासना,अवतारों की उपासना, पंच सगुण ब्रह्म रूपों की उपासना और निर्गुण ब्रह्मोपासना, ये पांच भक्ति सम्बन्धी भेद है और योग के अनुसार उपासना के मन्त्र, हठ, लय, राज यह चार भेद हैं, इस प्रकार से इन्हीं, नौ भेदो के त्रिगुणात्मक होने से हे देवगण ! उपासना की सताईस प्रतिशाखाएँ हैं। ज्ञान यज्ञ के श्रवण, मनन, निदिध्यासन ये तीन भेद त्रिगुणसम्बन्ध से नवधा विभक्त होकर नौ प्रतिशाखाएँ होती हैं ॥१३२-१३६॥

द्विसप्त्या प्रशाखाभिः शाखाभिश्चैत्रमेव भोः।
निजानां ज्ञानिभक्तानां धर्मकल्पमात्मना ॥१३७॥

विराजे स्वान्तदेशेऽहं निर्जराः ! नात्र संशयः ।
धर्मकल्पद्रुमस्यास्य पत्रपुष्पात्मकान्यहो ॥१३८॥

उपाङ्गानि न सइख्यातुमाणि कैरपि क्वचित् ।

विचित्राणि मनोज्ञानि सन्ति तानि ध्रुवं सुराः ! ॥१३९॥

हे देवतागण ! इस प्रकार से मैं ही बहत्तर शाखा और प्रतिशाखाओं में धर्म कल्पसमुद्र रूप से अपने ज्ञानी भक्त के हृदय देश में निःसन्देह विराजमान है । उस धर्मकल्प समुद्र के पत्र पुष्प रूपी उपांङ्गो की तो संख्या ही किसी से कभी नहीं हो सकती, वह अतिमनोहर और विचित्र है ॥१३७-१३९॥

पक्षिणौ दौ सदा तत्र जगतां मोहकारिणौ।
मनोज्ञे वृक्षराजे स्तो वसन्तौ शाश्वतीः समाः ॥१४०॥

उस रम्य वृक्षराज पर जगन्मुग्ध कारी दो पक्षी सदा अनन्तकाल से निवास करते हैं ॥१४०॥

स्वादतेऽभ्युदयस्यैको ह्यपक्वे द्वे फले तयोः।
अपाश्नुतुरः पक्षी सुपक्वं त्वमृतं फलम् ॥१४१॥

सुस्वादास्वाध गीर्वाणाः ! नून निःश्रेयसं पदम् ।
ब्रह्मानन्दसमुल्लास-सार्थकत्वं प्रकाशयेत् ॥१४२॥

उनमें से एक पक्षी अभ्युदय के दो कच्चे फलों का स्वाद ग्रहण करता है और दूसरा चतुर पक्षी निःश्रेयस पदसपी सुपक्व और सुस्वादु अमृत फल का आस्वादन करके हे देवगण ! ब्रह्मानन्द-समुल्लास की चरितार्थता को निश्चय ही प्रकाशित करता है ॥१४१-१४२॥

श्राविता या मया देवाः ! शक्तिगीतेयमद्भुता। .
श्रुतीनां वो रहस्यैः सा परिपूर्णाऽस्ति सर्वथा ॥१४३॥

हे देवतागण ! मैंने आपलोगोंको जो यह अद्भुत शक्तिगीता सुनाई है वह सर्वथा वेदों के रहस्यों से पूर्ण है ॥१४३॥

सर्वोपनिषदां सारः प्रकाशो ज्ञानवर्चसाम् ।
ज्ञानानन्दसमुद्भूतं नवनीतं मनोहरम् ॥१४४॥

सब उपनिषदों का सार, ज्ञानज्योति को प्रकाशरूपा और ज्ञान और आनंद से उत्पन्न सुन्दर मक्खन रूपा है ॥१४४॥

सर्वेषु सम्प्रदायेषु सर्वोपासकशक्तिदा ।
शान्तिप्रदाऽऽर्त्तभक्तेभ्यो जिज्ञासुज्ञानवर्द्धिनी ॥१४५॥

यह सब सम्प्रदायों में सब उपासकों के लिये शक्ति प्रदान कारिणी है, आर्तभक्तों के लिये शान्तिप्रदा है, जिज्ञासु भक्तों के लिये ज्ञानवर्द्धिनी है ॥१४५॥

अर्थाथिभक्तवृन्दानां सदा सन्मार्गदर्शिनी।
ज्ञानिभक्तसमूहेभ्यः परमानन्ददायिनी ॥१४६॥

अर्थार्थी भक्तों के लिये सदा सन्मार्ग प्रदर्शिनी है और ज्ञानी भक्तों के लिये परमानन्ददायिनी है। ॥१४६॥

नारीजातिसतीत्वस्य नितरामस्ति बर्धिका।
तपोमूलकधर्मस्य तासाञ्च परिवर्द्धिका ॥१४७॥

नारीजाति के लिये उनके सतीत्व की अत्यन्त वर्धिका और उनके तपोमूलक धर्म को बढ़ानेवाली है। ॥१४७॥

एषा पुरुषपुञ्जेभ्यो निखिलेभ्यो दिवौकसः।
धर्मार्थकाममोक्षाख्यचतुर्वर्गफलप्रदा ॥१४८॥

हे देवगण समस्त पुरुषों के लिये यह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी चतुवर्ग फलप्रदा है ॥ १४८॥

चातुर्वर्ण्यर्थमेपाऽस्ति सममभ्युदयप्रदा।
संयमोऽसौ गृहस्थानां नियमो ब्रह्मचारिणाम् ॥१४९॥

यह चातुर्वर्ण्य के लिये समानरूप से अभ्युदयप्रदा है, है देवगण ! ब्रह्मचारियों के लिये यह नियमरूपिणी है, गृहस्थों के लिये संयम रूपिणी है, वानप्रस्थों के लिये तपोरूपिणी है और सन्यासियों के लिये निस्सन्देह त्याग शक्तिप्रदान कारिणी है ॥१४९-१५०॥

वानप्रस्थाश्रमस्थानां तपोरूपाऽस्त्यसौ सुराः ।
त्यागशक्तिप्रदा चास्ते सन्यासिभ्यो न संशयः ॥१५०॥

निश्चितं वित्त भो देवाः ! सत्यमेतद्ब्रवीम्यहम् ।
चातुर्वर्ण्यस्थिता मर्त्या चतुराश्रमिणस्तथा ॥१५१॥

अस्या हि शक्तिगीतायाः स्वाध्यायं विधिपूर्वकम्।
कुर्युश्चेदुन्नतिस्तेषां स्वधर्माणां ध्रुवं भवेत ॥१५२॥

हे देवतागण ! मैं यह सत्य कहती हूँ, निश्चय जानो कि चारों वर्ण और चारों, आश्रमों के मनुष्य यदि विधिपूर्वक इस शक्तिगीता का स्वाध्याय करेंगे तो उनकी स्वघर्म उन्नति अवश्य ही होगी ॥१५१-१५२॥

चतुर्वगोऽपि तेषां स्यात्सुलभो नात्र संशयः।
देवाः ! अतोऽस्ति कर्त्तव्यमुचितं वः सुनिश्चितम् ॥१५३॥

वर्णाश्रमाणां धर्माणां मर्यादा मुक्तिदायिनी ।
विद्यते यत्र तत्रैव मर्त्यलोके पुनः पुनः ॥१५४॥

अस्या हि शक्तिगीतायाः प्रचारः क्रियतामलम्।
गुरुभक्तिविहीनेभ्योऽसदाचारिभ्य एव तु ॥१५५॥

नास्तिकेभ्यः सुपर्वाणः भ्रष्टेभ्यो वेदमार्गतः।
ऋषियुष्मत्पितृव्राते विश्वास ये न कुर्वते ॥१५६॥
"
तेभ्यो नैषा प्रदातव्या शक्तिगीता कदाचन ।
एतल्लक्ष्यं सदा रक्ष्यमस्या देवाः ! प्रचारणे ॥१५७॥

और चतुवर्ग भी उनके लिये सुलभ हो जायगा, इसमें सन्देह नहीं। इस कारण हे देवगण ! आप लोगों का यह निश्चित उचित कर्तव्य है कि मृत्युलोक में जहाँ मुक्ति विधायिनी वर्णाश्रम धर्मों की मर्यादा है

वहीं बारम्बार इस शक्तिगीता का भलीभांति प्रचार करें। परन्तु हे देवगण, इसके प्रचारमें यह लक्ष्य सदा रखना चाहिये कि यह शक्तिगीता कदापि गुरुभक्ति से रहित, कदाचारी, नास्तिक, वेदमार्ग से भ्रष्ठ, ऋषियो में, आप लोगों में और पितरों में विश्वासहीन व्यक्तियों को नहीं देनी चाहिये ॥१५३-१५७॥

अस्या हि शक्तिगीतायाः शक्तिरास्ते महाद्भता ।
एतन्मंत्रावलीपाठात् तत्साहाय्याच निर्जराः ॥१५८॥

शक्तियागविधानेन दुःखी दुःखाद्विमुच्यते।
धनार्थ लोलचित्तेभ्यो महालक्ष्मीः प्रसीदति ॥१५९॥

इस शक्तिगीता की परम अद्भुत शक्ति है । हे देवतागण ! इस गीता की मन्त्रावली के पाठ द्वारा और उसकी सहायता से शक्तियाग के अनुष्ठान द्वारा दुःखी के सब दुःख दूर हो जाते हैं, धन के लिये चञ्चलचित्त व्यक्तियों पर महालक्ष्मी की प्रसन्नता हो जाती है ॥१५८-१५९॥

सुपुत्रं प्रलभेयातां पुत्रहीनौ हि दम्पती।
राजद्वारे तथा देवाः ! साफल्यं जायते नृणाम् ॥१६०॥

पुत्रहीन दम्पती को सुपुत्र की प्राप्ति होती है, हे देवगण ! राजद्वार में मनुष्यों को सफलता की प्राप्ति होती है ॥१६०॥

सर्वेषां सुलभा पूर्तिरनया वासनावले:।
अस्यास्तु शक्तिगीताया जपहोमौ सुरोत्तमाः ॥१६१॥

आधिव्याध्यपनोदार्थममोघे स्तो महौषधी।
श्रवणं मननं कार्यमस्या अध्ययनन्तथा ॥१६२॥

प्रचारो योग्यपात्रेषु कर्तव्यश्च निरन्तरम् ।
सम्वृद्धिर्येन मर्त्याना भवताश्च भवेत्सुराः ! ॥१६३॥

इसके द्वारा सब व्यक्तियों की वासनाओं की पूर्ति सुलभ हो जाती है। हे देवतागण ! आधि व्याधि दूर करने के लिये तो इस शक्तिगीता का जप और यज्ञ अमोघ महौषधि है। सदा इसका पाठ, श्रवण और मनन करना चाहिये और योग्य पात्रों में इस का प्रचार करना चाहिये जिससे मनुष्यों का संवर्द्धन और हे देवतागण ! आप लोगों का भी संवर्द्धन हो। ॥१६१-१६३॥

एतत्प्रचारपाठाभ्यां कल्याणं परमाप्नुत।
एषा वोऽभिहिता देवाः ! विश्वकल्याणसम्पदे ॥१६४॥

हे देवतागण इसके पाठ और प्रचारके द्वारा परम कल्याण को प्राप्त करो। जगत मंगल के लिये यह शक्तिगीता मैंने आप लोगो से कही है ॥१६४॥

इति श्रीशक्तिगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे महादेवी देवसम्वादे विराटरूपदर्शनविभूतियोग वर्णनं नाम सप्तमोऽध्यायः।

इस प्रकार श्रीशक्तिगीतोपनिषद् के ब्रह्मविद्यासम्बन्धी योगशास्त्र का महादेवीदेवसम्वादात्मक विराटरूपदर्शन और विभूतियोगवर्णन नामक सप्तम अध्याय समाप्त हुआ।

॥समाप्तेयं श्री शक्ति गीता॥

॥ श्रीशक्ति गीता समाप्त॥

# आरती श्री अम्बेमाता की

## श्लोक

सर्वमंगल मांग्लयै , शिवे सर्वार्थसाधिके ।
शरण्ये त्र्यम्बिके गौरी , नारायणी नमोऽस्तुते ।।

## आरती

ॐ जय अम्बे गौरी, मैया जय श्यामा गौरी
तुम को निस दिन ध्यावत, मैयाजी को निस दिन ध्यावत,
हरि ब्रह्मा शिव री ॥ॐ जय अम्बे गौरी॥

माँग सिन्दूर विराजत, टीको मृग मद को। मैया टीको मृगमद को,
उज्ज्वल से दोउ नैना, चन्द्रवदन नीको ॥
ॐ जय अम्बे गौरी

कनक समान कलेवर, रक्ताम्बर साजे। मैया रक्ताम्बर साजे
रक्त पुष्प गल माला, कण्ठन पर साजे॥
ॐ जय अम्बे गौरी

केहरि वाहन राजत, खड्ग खपर धारी। मैया खड्ग खपर धारी
सुर-नर-मुनि-जन सेवत, तिनके दुख हारी॥
ॐ जय अम्बे गौरी

कानन कुण्डल शोभित, नासाग्रे मोती। मैया नासाग्रे मोती
कोटिक चन्द्र दिवाकर, सम राजत ज्योति॥
ॐ जय अम्बे गौरी

शुम्भ निशुम्भ बिदारे, महिषासुर घाती। मैया महिषासुर घाती
धूम्र विलोचन नैना, निशदिन मदमाती॥
ॐ जय अम्बे गौरी

चण्ड मुण्ड संहारे, शोणित बीज हरे। मैया शोणित बीज हरे
मधु कैटभ दोउ मारे, सुर भयहीन करे॥
ॐ जय अम्बे गौरी

ब्रह्माणी रुद्राणी, तुम कमला रानी। मैया तुम कमला रानी
आगम निगम बखानी, तुम शिव पटरानी॥
ॐ जय अम्बे गौरी

चौंसठ योगिनि गावत, नृत्य करत भैरों। मैया नृत्य करत भैरों
बाजत ताल मृदंग और बाजत डमरू॥
ॐ जय अम्बे गौरी

तुम हो जग की माता, तुम ही हो भर्ता। मैया तुम ही हो भर्ता
भक्तन की दुख हर्ता, सुख सम्पति कर्ता॥
ॐ जय अम्बे गौरी

भुजा चार अति शोभित, वर मुद्रा धारी। मैया वर मुद्रा धारी
मन वाँछित फल पावत, सेवत नर नारी॥
ॐ जय अम्बे गौरी

कंचन थाल विराजत, अगर कपूर बाती। मैया अगर कपूर बाती
माल केतु में राजत, कोटि रतन ज्योती॥
ॐ जय अम्बे गौरी

माँ अम्बे की आरती, जो कोई नर गावे। मैया जो कोई नर गावे
कहत शिवानन्द स्वामी, सुख सम्पति पावे॥
ॐ जय अम्बे गौरी

## देवी वन्दना

या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥

# श्रीदुर्गा सप्तश्लोकी स्तोत्र

ॐ अस्य श्रीदुर्गासप्तश्लोकीस्तोत्रमहामन्त्रस्य

नारायण ऋषिः । अनुष्टुपादीनि छन्दांसि
श्रीमहाकालीमहालक्ष्मीमहासरस्वत्यो देवताः
श्री जगदम्बाप्रीत्यर्थ पाठे विनियोगः

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवि भगवती हि सा ।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥१॥

वे भगवती महामाया देवी ज्ञानियों के भी चित्त को बलपूर्वक खींचकर मोह में डाल देती हैं ।

दुर्गे स्मृता हरसि भीतिमशेषजन्तोः
स्वस्थैः स्मृता मतिमतीव शुभां ददासि ।
दारिद्र्यदुःखभयहारिणि का त्वदन्या
सर्वोपकारकरणाय सदार्द्र चित्ता ॥२॥

माँ दुर्गे ! आप स्मरण करने पर सब प्राणियों का भय हर लेती हैं और स्वस्थ पुरुषों द्धारा चिन्तन करने पर उन्हें परम कल्याणमयी बुद्धि प्रदान करती हैं । दुःख, दरिद्रता और भय हरनेवाली देवी ! आपके सिवा दूसरी कौन है, जिसका चित्त सबका उपकार करने के लिए सदा ही दयार्द्र रहता हो ।

सर्वमङ्गलमङ्गल्ये शिवे सर्वार्थसाधिके ।

शरण्ये त्र्यम्बके गौरि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥३॥

नारायणी ! आप सब प्रकार का मंगल प्रदान करनेवाली मंगलमयी हैं, आप ही कल्याणदायिनी शिवा हैं । आप सब पुरुषार्थो को सिद्ध करने वाली, शरणागतवत्सला, तीन नेत्रों वाली गौरी हैं । आपको नमस्कार है ।

शरणागतदीनार्तपरित्राणपरायणे ।
सर्वस्यार्तिहरे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥४॥

शरणागतों, दिनों एवं पीड़ितों की रक्षा में संलग्न रहनेवाली तथा सबकी पीड़ा दूर करनेवाली नारायणी देवी ! आपको नमस्कार है ।

सर्वस्वरूपे सर्वेशे सर्वशक्तिसमन्विते ।
भयेभ्यस्त्राहि नो देवि दुर्गे देवी नमोऽस्तु ते ॥५॥

सर्वस्वरूपा, सर्वेश्वरी तथा सब प्रकार की शक्तियों से सम्पन्न दिव्यरूपा दुर्गे देवी ! सब भयों से हमारी रक्षा कीजिये ; आपको नमस्कार है ।

रोगानशेषानपहंसि तुष्टा रुष्टा तु कामान् सकलानभीष्टान् ।
त्वामाश्रितानां न विपन्नराणां त्वामाश्रिता ह्याश्रयतां प्रयान्ति ॥६॥

देवी ! आप प्रसन्न होने पर सब रोगों को नष्ट कर देती हैं और कुपित होने पर मनोवांछित सभी कामनाओं का नाश कर देती हैं । जो लोग

आपकी शरण में हैं, उनपर विपत्ति तो आती ही नहीं ; आपकी शरण में गए हुए मनुष्य दूसरों को शरण देनेवाले हो जाते हैं ।

सर्वाबाधाप्रशमनं त्रैलोक्यस्याखिलेश्वरि ।
एवमेव त्वया कार्यमस्मद्वैरि विनाशनम् ॥७॥

सर्वेश्वरि ! आप ऐसी प्रकार तीनों लोकों की समस्त बाधाओं को शान्त करें और हमारे शत्रुओं का नाश करती रहें ।

॥जय माता दी॥

## ऋगवेदीय देवी सूक्त

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥१॥

ब्रह्मस्वरुपा मैं ही रुद्र, वसु, आदित्य और विश्वदेवताके रुपमें विचरण करती हूँ, अर्थात् मैं ही उन सभी रुपो में प्रकाशित हो रही हूँ । मैं ही ब्रह्मरुपसे मित्र और वरुण दोनोंको धारण करती हूँ। मैं ही इन्द्र और अग्नि का आधार हूँ। मैं ही दोनो अश्विनीकुमारों का धारण-पोषण करती हूँ । ॥१॥

अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम् ।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते ॥२॥

मैं ही शत्रुनाशक, कामादि दोष-निवर्तक, परम आल्हाददायी, यज्ञगत सोम, चन्द्रमा, मन अथवा शिव का भरण पोषण करती हूँ। मैं ही त्वष्टा, पूषा और भग को भी धारण करती हूँ। जो यजमान यज्ञ में सोमाभिष के द्वारा देवताओं को तृप्त करने के लिये हाथ में हविष्य लेकर हवन करता है, उसे लोक-परलोक में सुखकारी फल देनेवाली मैं ही हूँ। ॥२॥

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम् ॥३॥

मैं ही राष्ट्री अर्थात् सम्पूर्ण जगत् की ईश्वरी हूँ । मैं उपासकों को उनके अभीष्ट वसु-धन प्राप्त करानेवाली हूँ। जिज्ञासुओंके साक्षात् कर्तव्य परब्रह्म को अपनी आत्माके रुप में मैंने अनुभव कर लिया है। जिनके लिये यज्ञ किये जाते हैं, उनमें मैं सर्वश्रेष्ठ हूँ । सम्पूर्ण प्रपञ्च के रुपमें मैं ही अनेक-सी होकर विराजमान हूँ। सम्पूर्ण प्राणियों के शरीर में जीवनरुप में मैं अपने-आपको ही प्रविष्ट कर रही हूँ । भिन्नभिन्न देश, काल, वस्तु और व्यक्तियों में जो कुछ हो रहा है, किया जा रहा है, वह सब मुझमें मेरे लिये ही किया जा रहा है। सम्पूर्ण विश्व के रुप में अवस्थित होने के कारण जो कोई जो कुछ भी करता है, वह सब मैं ही हूँ । ॥३॥

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणितियईं श्रृणोत्युक्तम् ।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि ॥४॥

जो कोई भोग भोगता है, वह मुझ भोक्त्री की शक्ति से ही भोगता है। जो देखता है, जो श्वास-प्रवाश रुपी व्यापार करता है और जो कही हुई सुनता है, वह भी मुझसे ही है । जो इस प्रकार अंतर्मायी रुप से स्थित मुझे नहीं जानते, वे अज्ञानी दीन, हीन, क्षीण हो जाते हैं । मेरे प्यारे सखा ! मेरी बात सुनो-- मैं तुम्हारे लिये उस ब्रह्मात्मक वस्तुका उपदेश करती हूँ, जो श्रद्धा-साधनसे उपलब्ध होती है। ॥४॥

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥५॥

मैं स्वयं ही ब्रह्मात्मक वस्तुका उपदेश करती हूँ । देवताओं और मनुष्यों ने भी इसी का सेवन किया है । मैं स्वयं ब्रह्मा हूँ । मैं जिसकी रक्षा करना चाहती हूँ, उसे सर्वश्रेष्ठ बना देती हूँ, मैं चाहूँ तो उसे सृष्टिकर्ता ब्रह्मा बना दूँ और उसे बृहस्पति के समान सुमेधा बना दूँ । मैं स्वयं अपने स्वरुप ब्रह्मभिन्न आत्मा का गान कर रही हूँ । ॥५॥

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥६॥

मैं ही ब्रह्मज्ञानियों के द्वेषी हिंसारत त्रिपुरवासी त्रिगुणाभिमानी अहंकारी असुर का वध करने के लिये संहारकारी रुद्र के धनुष पर प्रत्यञ्चा चढाती हूँ । मैं ही अपने जिज्ञासु स्तोताओंके विरोधी शत्रुओंके साथ संग्राम करके उन्हें पराजित करती हूँ । मैं ही द्युलोक और पृथिवीमें अन्तर्यामिरुपसे प्रविष्ट हूँ। ॥६॥

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे ।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि ॥७॥

इस विश्व के शिरोभागपर विराजमान द्युलोक अथवा आदित्यरुप पिता का प्रसव मैं ही करती रहती हूँ । उस कारण में ही तन्तुओं में पट के समान आकाशादि सम्पूर्ण कार्य दिखाई दे रहा है। दिव्य कारण-वारिरुप समुद्र, जिसमें सम्पूर्ण प्राणियों एवं पदार्थोंका उदय-विलय होता रहता है, वह ब्रह्मचैतन्य ही मेरा निवासस्थान है। यही कारण है कि मैं सम्पूर्ण भूतों में अनुप्रविष्ट होकर रहती हूँ और अपने

कारणभूत मायात्मक स्वशरीरसे सम्पूर्ण दृश्य कार्यका स्पर्श करती हूँ । ॥७॥

अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा ।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव ॥ ८ ॥

जैसे वायु किसी दूसरे से प्रेरित न होने पर भी स्वयं प्रवाहित होता है, उसी प्रकार मैं ही किसी दूसरे के द्वारा प्रेरित और अधिष्ठित न होनेपर भी स्वयं ही कारणरुप से सम्पूर्ण भूतरुप कार्यों का आरम्भ करती हूँ। मैं आकाशसे भी परे हूँ और इस पृथ्वी से भी अर्थात मैं सम्पूर्ण विकारों से परे, असंग, उदासीन, कूटस्थ ब्रह्मचैतन्य हूँ। अपनी महिमा से सम्पूर्ण जगत् के रुप में मैं ही व्यवस्थित हूँ ।

॥ इति देवी सूक्त ॥

(ऋगवेद- दशम मण्डल - १२५वॉ सूक्त)

# तंत्रोक्तं देवीसूक्त

नमो देव्यै महादेव्यै शिवायै सततं नमः।
नमः प्रकृत्यै भद्रायै नियताः प्रणता स्मरताम। ॥१॥

रौद्रायै नमो नित्यायै गौर्य धात्र्यै नमो नमः।
ज्योत्स्नायै चेन्दुरुपिण्यै सुखायै सततं नमः ॥२॥

कल्याण्यै प्रणतां वृद्धयै सिद्धयै कुर्मो नमो नमः।
नैर्ऋत्यै भूभृतां लक्ष्म्यै शर्वाण्यै ते नमो नमः ॥३॥

दुर्गायै दुर्गपारायै सारायै सर्वकारिण्यै।
ख्यात्यै तथैव कृष्णायै धूम्रायै सततं नमः ॥४॥

अतिसौम्यातिरौद्रायै नतास्तस्यै नमो नमः।
नमो जगत्प्रतिष्ठायै देव्यै नमो नमः ॥५॥

या देवी सर्वभूतेषु विष्णुमायेति शब्दिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥६॥

या देवी सर्वभूतेषु चेतनेत्यभिधीयते।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥७॥

या देवी सर्वभूतेषु बुद्धिरुपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥८॥

या देवी सर्वभूतेषु निद्रारूपेण संस्थिता।

नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥९॥

या देवी सर्वभूतेषु क्षुधारूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥१०॥

या देवी सर्वभूतेषुच्छायारूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥११॥

या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥१२॥

या देवी सर्वभूतेषु तृष्णारूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥१३॥

या देवी सर्वभूतेषु क्षान्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥१४॥

या देवी सर्वभूतेषु जातिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥१५॥

या देवी सर्वभूतेषु लज्जारुपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥१६॥

या देवी सर्वभूतेषु शान्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥१७॥

या देवी सर्वभूतेषु श्रद्धारूपेण संस्थिता।

नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥१८॥

या देवी सर्वभूतेषु कान्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥१९॥

या देवी सर्वभूतेषु लक्ष्मीरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥२०॥

या देवी सर्वभूतेषु वृत्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥२१॥

या देवी सर्वभूतेषु स्मृतिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥२२॥

या देवी सर्वभूतेषु दयारूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥२३॥

या देवी सर्वभूतेषु तुष्टिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥२४॥

या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥२५॥

या देवी सर्वभूतेषु भ्रान्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥२६॥

इन्द्रियाणामधिष्ठात्री भूतानां चाखिलेषु या।

भूतेषु सततं तस्यै व्याप्तिदैव्यै नमो नमः ॥२७॥

चित्तिरूपेण या कृत्स्नमेतद्व्याप्त स्थिता जगत्।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥२८॥

स्तुता सुरैः पूर्वमभीष्टसंश्रया -त्तथा सुरेन्द्रेणु दिनेषु सेविता॥
करोतु सा नः शुभहेतुरीश्वरी शुभानि भद्राण्यभिहन्तु चापदः ॥२९॥

या साम्प्रतं चोद्धतदैत्यतापितै -रस्माभिरीशा च सुरैर्नमस्यते।
या च स्मृता तत्क्षणमेव हन्ति नः सर्वापदो भक्तिविनम्रमूर्तिभिः ॥३०॥

॥ इति तन्त्रोक्तं देवीसूक्तम् सम्पूर्णम् ॥

ॐ शांतिः ! शांतिः! शांतिः!